जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १० किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol IX No II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1943.

CC-0. Gurutnassuri MS Jin Gun Aradhak Trust

8446

जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र षाण्मासिक पत्र है। इसमें प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनामित्र

"जैन समाज में पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।'

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक हैं। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एवं विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

—Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते हैं कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगों के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न-राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन; एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

१ सुकौशलचरित—[ले० श्रीयुत रामजी उपाध्याय, एम० ए० ... ... ५५

२. भगवान् महावीर की जन्मभूमि —[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ६०

३ देशीराज द्वारा जैनधर्म की सहायता—[ले० श्रीयुत बनारसी प्रसाद भोजपुरी, सा० रत्न, रचनानिधि ६७

४ उपाध्याय मेघविजय के दो नवीन ग्रन्थ—[ले० श्रीयुत अगरचन्द, नाहटा ७०

५ जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्री कल्याणविजयजी—[ले० श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस० ... ... ७३

६ क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है ? —[ले० श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए; एल-एल० बी० .. ... ८९

७ जैन-सिद्धान्त-भवन के कार्यों का सिंहावलोकन—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ९५

८ 'नीतिवाक्यामृत' आदि के रचयिता श्रीसोमदेवसूरि—[ले० श्रीयुत डा० वी० राघवन, एम० ए०, पी-एच० डी० ... ... १०१

९ चन्देरी—[ले० श्रीयुत दे० स० त्रिवेद, एम० ए० ... ... १०५

१० समीक्षा—

(क) तिलोय-पण्णत्ती [त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति]—नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री न्यायज्योतिषतीर्थ १०६

(ख) पूर्वपुराणं—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १०८

(ग) आदर्श महिला पं० चन्दाबाई—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य १०९

(घ) जैनसाहित्य और इतिहास—हरनाथ द्विवेदी, काव्यपुराणतीर्थ ... ११०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १० | दिसम्बर, १९४३। पौष, वीर नि० सं० २४७० | किरण २

सुकौशलचरित

[ले० श्रीयुत रामजी उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन भारत की साहित्यिक भाषायें संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश रही हैं। अपभ्रंश की उत्पत्ति और इसका विकास संस्कृत, पालि और प्राकृत के पश्चात् हुआ। अपभ्रंश काव्यों की रचना का प्रथम उल्लेख वलभी के धरसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख का समय ५५९ और ५६९ ई० के बीच का है। इस लेख में धरसेन के पिता गुहसेन के विषय में कहा गया है कि वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं की प्रबन्ध-रचना में निपुण थे।[१] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ६ वीं शताब्दी में अपभ्रंश में स्वतन्त्र रूप से रचनायें होती थीं। उस समय से लेकर कम से कम १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा रही है। सुकौशलचरित अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।[२]

---

१ बम्बे गजेटियर, प्रथम भाग, पृष्ठ ९०।

२ रयधू के प्रायः समकालीन यशःकीर्ति के लिखे हुये दो अपभ्रंश ग्रन्थ हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित मिले हैं। यशःकीर्ति संवत् १४८६ वि० में ग्वालियर काष्ठासंघ के आचार्य थे। इनका उल्लेख श्रीधररचित सुकुमारचरित की हस्तलिखित प्रति के अन्त में किया गया है। हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित का उल्लेख नाथूराम प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' के पृष्ठ ३८० में मिलता है। सुकुमारचरित की विवेचना प्रो० हीरालाल जैन ने नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल दिसम्बर १९४२ के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में की है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सुकौशलचरित[1] के रचयिता जैनधर्मानुयायी पण्डित रयधू थे। इनका दूसरा नाम सिंहसेन भी है।[2] इनके पिता का नाम हरसिंघ या हरिसिंह था। इनकी रचनाओं का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का मध्यकाल है।[3] रयधू ग्वालियर के गणधर कुमारसेन के शिष्य थे। इन्होंने गणधर परम्परा में विजयसेन, क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और कुमारसेन का उल्लेख किया है।[4] इनका जीवन प्रायः धार्मिक ग्रंथों के लिखने में ही व्यतीत हुआ। अन्य अपभ्रंश कवियों की तरह ये भी आश्रयदाताओं अथवा गुरुजनों के आदेशानुसार ग्रंथ-रचना करते थे। इनको अपने पाण्डित्य का तनिक भी अभिमान नहीं था। इन्होंने अपने को 'जडमति' और 'अगर्व' आदि कहा है।[5] अपने विषय में ये लिखते हैं कि मुझे शब्द, अर्थ और पिङ्गल का ज्ञान नहीं है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवि में विद्वत्ता की किसी प्रकार कमी थी। इनके गुरु कुमारसेन ने इनको पण्डित और बुध आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[6]

सौभाग्य वश रयधू ने अपनी कुछ कृतियों का उल्लेख सुकौशलचरित में किया है। इन्होंने स्वरचित नेमिजिनेन्द्रचरित[7] (हरिवंशपुराण) के विषय में लिखा है कि इसका

---

१ इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से लेखक को प्राप्त हुई। इस प्रति के अन्त में इसकी प्रतिलिपि के विषय में लिखा गया है : यह प्रति मु० देहली खजूर की मसजिद वाले नये पंचायती मंदिर में से संवत् १६३३ विक्रम की लिखी हुई प्रति से लिखी जो कि बाबू देवकुमार जी द्वारा स्थापित श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के लिये संग्रहार्थ विक्रम संवत् १९८७ के मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को लिख कर तैयार हुई।

२ प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में मेघेश्वरचरित के रचयिता सिंहसेन का दूसरा नाम रयधू लिखा गया है।

३ पं० परमानन्दजी पण्डित रयधू का ग्रन्थरचनाकाल वि० सं० १४९७ से वि० सं १५२१ तक अर्थात् वि० की १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानते हैं। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०४] —के० बी० शास्त्री।

४ सुकौशलचरित १.२।

पं० परमानन्दजी ने रयधू को काष्ठासंघ के माथुरान्वय और पुष्करगण के भट्टारक यशःकीर्त्ति का शिष्य तथा भट्टारक गुणकीर्त्ति का प्रशिष्य बतलाया है। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०२] —के० बी० शास्त्री

५ सुकौशलचरित १. ५।

६ सुकौशलचरित १. ३, ४.।

७ इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति हरिवंशपुराण रयधू-रचित प्राकृत ग्रन्थ के नाम से जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में है। सम्भवतः यह अपभ्रंश-प्राकृत का काव्य है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पठन-पाठन आनन्दप्रद है। खेऊ या खेमसी साहु के लिये इन्होंने पार्श्वचरित की रचना की थी। बलभद्रपुराण की रचना कवि ने स्वान्तःसुखाय ही की ।[1] इन ग्रंथों के अतिरिक्त रयधू के लिखे हुए मेघेश्वर चरित और दशलाक्षणिक जयमाला नामक दो अपभ्रंश ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[2] रयधू ने एक करकण्डुचरित नामक ग्रंथ भी लिखा है जिसका उल्लेख प्रो० हीरालाल जैन ने कनकामर रचित करकण्डुचरित की भूमिका के पृष्ठ १३ में किया है।[3]

रयधू ने सुकौशलचरित की रचना अपने गुरु कुमारसेन गणधर के आदेशानुसार की थी। कवि ने गणधर से ग्रंथ की उपादेयता के निमित्त इसके प्रचार करने वाले की आवश्यकता बतलाई। इस ग्रंथ का विस्तार करने के लिये गणधर ने ग्वालियर के आणा साहु के पुत्र रणमल्ल का नाम बतलाया और यह ग्रंथ उन्हीं के आश्रय में लिखा गया।[4] इस ग्रंथ की रचना का समय बतलाते हुये कवि ने लिखा है :

---

१ जहं पइ णेमि जिणिंदहुकेरउ। चरिउ रइउ बहु सुक्ख जणेरउ॥
अण्णु वि पासहु चरिउ पयासिउ। खेऊ साहु णिमित्त सुहासिउ॥
बलहद्दउ पुराण पुणु तीयउ। णियमण अणुराएं पइं कीयउ॥
तहु सुकोसल चरिउ सुहंकरु। विरयहि भवसय दुक्ख खयंकरु॥
सुकौशल चरित १. ३

२ प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में इन दो ग्रन्थों के विषय में लिखा गया है।

३ पं० परमानन्दजी ने अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०१ में प्रकाशित 'अपभ्रंश-भाषा के प्रसिद्ध कवि पं० रइधू' नामक अपने लेख में इनके २३ ग्रन्थों का नाम गिनाया है। वे इस प्रकार हैं : १ आदिपुराण (महापुराण) २ यशोधरचरित्र ३ वृत्तसार ४ जीवंधरचरित्र ५ पार्श्वनाथपुराण ६ हरिवंशपुराण ७ दशलक्षणजयमाला ८ सुकौशलचरित्र ९ रामपुराण १० षोडशकारण-जयमाला ११ महावीरचरित्र १२ करकंडुचरित्र १३ अणथमीकथा १४ सिद्धचक्रचरित्र १५ जिणंधरचरित्र १६ उपदेशरत्नमाला १७ आत्मसंबोधन १८ पुण्याश्रवकथा १९ श्रीपालचरित्र २० सम्मत्तगुणनिधान २१ सम्यग्गुणरोहण २२ सम्यक्त्वकौमुदी २३ सिद्धान्तार्थसार।
—के० बी० शास्त्री।

४ रणमल्ल बहुत धनी वणिक् थे। कवि ने आश्रयदाता की वंशावली और प्रशंसा ग्रन्थ के अन्त और प्रथम संधि के चतुर्थ कडवक में की है। प्रत्येक संधि के अन्त में भी कवि रणमल्ल के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करता है। द्वितीय संधि के प्रारम्भ में आश्रय-दाता को आशीर्वाद देते हुये संस्कृत भाषा में कवि ने लिखा है :

अभिभक्तगुणग्रामः कामं जगज्जनवल्लभः।
कलभलीलासालः (१) कलं कलकेलिदः॥
जयतु जगतां सारः सतां शिरसि शेखरः।
परमधार्मिकः साधुरणमल्ल नामकः॥२. १

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सिरि विक्कम समयंतरालि । वट्टंत इन्दु सम विसम कालि ।
चउदह सय संवच्छरइ अन्न । छण्णउव अहिय पुणु जाय पुण्ण ॥
माहहु जि किण्ह दहमा दिणम्मि । अणुराहरिक्खि पयडिय सकम्मि ॥

इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ १४९६ वि० सं० (१४५० ई०) के माघ मास कृष्ण पक्ष में दशमी तिथि को समाप्त हुआ था। उस समय ग्वालियर[1] (गोवागिरि) में डुंगर सिंह राज्य करते थे।[2]

सुकौशलचरित केवल ४ संधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कुल मिला कर ७४ कडवक हैं। पहली दो संधियों में कवि ने पुराणों की तरह 'काल, कुलधर, जिननाथ और देश' सम्बन्धी वर्णन दिया है। रचयिता की शैली प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः वर्णनात्मक है। कहीं कहीं पर रयधू ने कवित्व का प्रदर्शन भी किया है। चौथी संधि में अन्तःपुर की रमणियों के हाव-भाव और अलंकारों का काव्यमय वर्णन उच्चकोटि का है। इस ग्रन्थ को समाप्त करते हुये कवि ने उपसंहार में नाटकों के भरत वाक्य की भाँति लिखा है :

राणउ णंदउ सुहि वसउ देसु
जिण सासण णंदउ विगयलेसु ॥

कवि की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। तत्कालीन जनता की भाषा का कोई भी प्रभाव इस ग्रन्थ में नहीं लक्षित होता। अपभ्रंश भाषा भी अन्य भाषाओं की भाँति एक व्यवस्थित (Classical) भाषा रही है।

सुकौशल चरित का कथानक

इक्ष्वाकुवंश में कीर्तिधर नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे। उल्का देखने के पश्चात् इनको संसार की असारता का ज्ञान हुआ। वे संन्यासी होकर जीवन बिताना चाहते थे किन्तु मंत्रियों के समझाने से पुत्रोत्पत्ति के समय तक इन्होंने सन्यास से विरत रहने का निश्चय किया।

कई वर्षों तक उन्हें कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। उनकी रानी सहदेवी एक दिन जैन मन्दिर में गईं। वहाँ मुनि ने सूचित किया कि तुम्हें एक पुत्र होगा, किन्तु वह किसी भी मुनि को देख कर संन्यासी हो जायेगा।

कुछ समय के पश्चात् रानी ने पुत्र प्रसव किया। इस पुत्रोत्पत्ति को गुप्त रखने की महती चेष्टा करने पर भी राजा ने जान लिया और तत्काल ही उस कुमार को राज्य भार

१ ग्वालियर के अन्य नाम गोपालगिरि, गोवाचल इत्यादि हैं।
२ सुकौशलचरित १. ४; ४. २२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सौंप कर व्रतधारी हो गये। राजा ने इस पुत्र को विद्वान् के लक्षणों से युक्त देखकर उसका नाम सुकौशल रखा।

रानी का पति-वियोग तो असह्य था ही, साथ हीं साथ उन्हें पुत्र के संन्यासी होने का भी भय था। युवावस्था में कुमार का विवाह ३२ राजकुमारियों से कर दिया गया। वे भोगविलास पूर्वक राजप्रासाद में रहने लगे। बाहर जाने का अधिकार उनको नहीं था। उनकी माता इस बात का सतत प्रयत्न करती थीं कि वे कहीं किसी मुनि को न देख लें। नगर में किसी मुनि को आने की आज्ञा नहीं थी। यदि वे कहीं पकड़ लिये जाते थे तो खूब पीटे जाते थे।

एक दिन राजकुमार के पिता, कीर्तिधवल जो मुनि हो गये थे, उस नगर में आये। उनकी भी वही दुगर्ति हुई। जब राजकुमार को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने अपना राज्य छोड़कर संन्यास ले लिया और कीर्तिधवल का शिष्य बन कर जैनधर्म के व्रतों और आचारों का पालन किया।

सहदेवी मरने के पश्चात् व्याघ्री हुई। क्योंकि वह सांसारिक मोह-माया में पड़ी हुई थी। एक दिन उसने अत्यन्त भूखी होने पर पर्वत पर विचरण करते हुये सुकौशल मुनि को ही खा लिया। सुकौशल ने मरने के पश्चात् मोक्ष पद प्राप्त किया। सहदेवी को कीर्तिधवल ने अपने पूर्व जन्म का स्मरण कराया। मुनि के उपदेशों को सुनकर उसे जातिस्मरण हुआ और अन्त में संन्यासी होकर मरने से उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। कीर्तिधवल ने भी अपने कुकर्मों का नाश कर के मोक्ष पद प्राप्त किया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भगवान् महावीर की जन्मभूमि

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

विख्यात बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन[1] आदि कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर का निर्वाण गोरखपुर जिला में कुशीनारा के निकट वर्तमान 'पपउर' नामक ग्राम में हुआ था। परन्तु वास्तव में भगवान् महावीर की निर्वाणभमि वही पावा है जो बिहार शरीफ से आग्नेय कोण में ७ मील की दूरी पर पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में इसे मध्यमा पावा कहा है। क्योंकि जैन और बौद्ध साहित्य के समन्वय से पावा तीन सिद्ध होती है और पहली एवं तीसरी इन दोनों के बीच में समानान्तर अवस्थित होने से यह उल्लिखित दूसरी पावा मध्यमा पावा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। हां, बौद्ध ग्रन्थों में तीसरी पावा तथा जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख नहीं मिलता है। यही कारण है कि अन्वेषक विद्वान् दो ही पावाओं का उल्लेख करते हैं। तीन पावाओं में पहली गोरखपुर जिला में, दूसरी पटना जिला में और तीसरी हजारीबाग जिला में अवस्थित थी।

अस्तु, जैन समाज को भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि का जब ठीक-ठीक पता लग गया और वहां पर विशाल मन्दिर एवं धर्मशालाएँ भी बन गई तब इसे महावीर की जन्मभूमि के अन्वेषण की भी चिन्ता हुई होगी। उसने यह सोचा कि जब भगवान् का निर्वाण पावापुरी में हुआ है तब उनका पवित्र जन्म भी इसीके आसपास ही कहीं हुआ होगा। जैन जनता अच्छी तरह जानती थी कि जैन ग्रन्थों में भगवान् महावीर का जन्म कुण्डलपुर[2] में लिखा है। अचानक नालन्दा से सटा हुआ लगभग दो मील की दूरी पर एक कुण्डलपुर नामक गांव का इसे पता भी लग गया। फिर पूछना ही क्या है, ज्ञात होता है कि यही कुण्डलपुर महावीर की जन्मभूमि मान ली गई और यहां पर भी मन्दिर, धर्मशाला आदि बन गई। तभी से यह स्थान भगवान् महावीर की जन्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

परन्तु यह कुण्डलपुर भगवान् महावीर की जन्मभूमि नहीं हो सकती। क्योंकि दिगम्बर[3]

१—'बुद्धचर्या'।

२—"उन्मीलितावधिदशा सहसा विदित्वा तज्जन्मभक्तिभरतः प्रणतोत्तमांगाः।
घंटानिनादसमवेतनिकायमुख्या दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः॥" १७—६१
[महाकवि असग-(ई० सन् ९८८) विरचित वर्धमानचरित्र]

३ (क) "सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः" ॥४॥
[आचार्य पूज्यपाद-(वि० ५ वीं शताब्दी) विरचित दशभक्ति पृष्ठ. ११६]

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एवं श्वेताम्बर[1] दोनों आम्नाय के साहित्य में महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर विदेह अथवा वैशाली[2] में लिखा हुआ मिलता है।

जिस कुण्डलपुर को जैन समाज इस समय महावीर की जन्मभूमि मान रहा है, वह विदेह या वैशाली में न होकर मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह के अति निकट वर्तमान है। भगवान् महावीर के जमाने में इस राजगृह में शिशुनागवंश का प्रतापी राजा, महावीर का मौसा श्रेणिक या बिम्बसार राज करता था। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान् महावीर के पूज्य पिता, इक्ष्वाकु या नाथवंश के मुकुटमणि सिद्धार्थ जैन ग्रन्थों में कुण्डपुर के राजा के रूप में कहे गये हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रराजसंघ में क्षत्रियकुलों के मुखियों की कौंसिल मुख्य-कार्य-कर्त्री थी और इस कौंसिल के सदस्यों का नामोल्लेख राजा के रूप में होता था।[3] नाथवंशीय क्षत्रिय वज्जिप्रदेशीय प्रजातन्त्रात्मक राजसंघ में सम्मिलित थे। यही कारण है कि भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा कहलाते थे। बल्कि इनका विवाह वैशाली के लिच्छवि-क्षत्रियों के प्रमुख नेता राजा चेटक

(ख) "अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखंडसमः श्रियः ॥१॥
तत्राखंडलनेत्रालीपद्मिनीखंडमंडनं।
सुखांभःकुंडमाभाति नाम्ना कुंडपुरं पुरं" ॥४॥
[आचार्य जिनसेन-(वि० ८ वीं शताब्दी) विरचित हरिवंशपुराण खण्ड १, सर्ग २]

(ग) "तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे ॥२५१॥
राज्ञः कुंडपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः सिद्धार्थस्य दिनं प्रति" ॥२५२॥
[आचार्य गुणभद्र-(वि० ९वीं शताब्दी) विरचित उत्तरपुराण पर्व ७४]

(घ) "अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिख्य ऊर्जितः। देशः सद्धर्मसंघाद्यैः विदेह इव राजते। ७—२
इत्यादिवर्णनोपेतदेशस्याभ्यन्तरे पुरं। राजते कुण्डलाभिख्यं ..... ॥" ७—१०
[महाकवि सकलकीर्ति-(मृत्युकाल ई० सन् १४६४) विरचित वर्धमानचरित्र]

(च) "अथास्मिन् भारते वर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु।
आसीत्कुण्डपुरं नाम्ना पुरं सुरपुरोपमम्" ॥१॥
[दामनन्दि-विरचित पुराण-संग्रह (हस्तलिखित) पृष्ठ. ५२, पूर्वपत्र]

१—सूत्रकृताङ्ग—१. २. ३. २२। उत्तराध्ययनसूत्र—६. १७। कल्पसूत्र—११०। भगवतीसूत्रटीका—२. १. १२. २। [जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ३, पृष्ठ. ४१]

२—कुण्डग्राम या कुण्डलपुर वैशाली का ही अपर भाग था।
[Ksatriya clans in Buddhist India, Page 36.]

३—'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का मैसूर-संस्करण, पृष्ठ. ४५५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

की पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशला के साथ हुआ था। ऐसे सम्भ्रान्त राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध होना भी इनकी प्रतिष्ठा और गौरव का ज्वलन्त निदर्शन है।

आधुनिक साहित्यान्वेषण से सिद्ध हो चुका है कि नाथ या ज्ञातृक क्षत्रियों का निवास-स्थान प्रधानतया वैशाली (बसाड़), कुण्डग्राम एवं वणिय ग्रामों में था। साथ ही साथ यह भी प्रकट हो चुका है कि नाथवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्राम से ऐशान्य दिशा में अवस्थित कोल्लाग में अधिक संख्या में रहते थे। वैशाली के निकट ही कुण्डग्राम वर्तमान था, जो सम्भवतः आजकल का 'वसुकुण्ड' है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म यहीं हुआ था। कोई-कोई विद्वान् कोल्लाग को ही इनका जन्मस्थान मानते हैं। परन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की आस्था के प्रतिकूल है।

नाथवंशीय क्षत्रियों के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि वे मुख्यतः जैनों के २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। बाद जब भगवान् महावीर के दिव्य करकमलों में जैनधर्म का शासन-सूत्र आया तब वे नियमानुसार उनके उपासक बन गये।

अस्तु, अब पाठक यह भी देख लें कि प्राचीन काल में विदेह की सीमा क्या थी। १४वीं शताब्दी के 'शक्तिसंगमकल्प' में विदेह की सीमा गण्डकी नदी के पूर्व बतलाई गई है।[1] सम्राट् अकबर द्वारा महामहोपाध्याय मिथिलेश पं० महेश ठाकुर के दान-पत्र में भी मिथिला की सीमा गंगा से हिमालय तथा कोशी और गण्डकी नदी के बीच बताई गई है।[2] इससे वैशाली के निकटवर्ती उक्त कुण्डलपुर गंगा के उत्तर होना स्वयं सिद्ध है। अब यह भी देख लीजिये कि पूर्व में मगध की सीमा क्या रही। 'शब्दार्थचिन्तामणि' में लिखा है कि "व्यासेश्वरं समारभ्य तमकुण्डान्तकं शिवे। मगधाख्यो महादेशो यात्रायां न हि दुष्यति॥" भगवान् बुद्ध के समय[3] मगध की सीमा इस प्रकार बतलाई गई हैं :

मगध के पूर्व में चम्पानदी थी, दक्षिण में विन्ध्याचल पहाड़, पश्चिम में शोणभद्र तथा उत्तर में गंगा की धारा। एक बार जब भगवान् बुद्ध राजगृह से वैशाली जाने लगे तो बिम्बसार ने[4] राजगृह से गंगातट तक के मार्ग को जो ५ योजन था पांच रंग के फूलों से सुसज्जित करा दिया

१—'गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरमुक्ताभिधो मनुः॥'

२—'अज गंग ता संग अज कोसी ता गोसी।'
[महामहोपाध्याय डा० सर. गंगानाथ झा 'अभिनन्दनग्रन्थ' पृष्ठ. ३८]

३—डा० जी० पी० मल्लालशेखर-रचित 'ए डिक्सनरी आफ पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ. ४०३।

४—'सुमंगलविलासिनी'।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

था तथा स्वयं गर्दन भर पानी तक गंगा में जाकर उनको विदा किया था। उनके लौटने पर उसी ठाट से उन्हें वापस ले गये थे।

कुछ पाठकों को यहां पर एक बात की शंका हो सकती है कि जैन ग्रन्थों में कहीं-कहीं भगवान् महावीर का जन्म विदेह में लिखा है और कहीं-कहीं वैशाली में। इसका उत्तर स्पष्ट है। विदेह भारत का एक विशाल राष्ट्र था और वैशाली उसी के अन्तर्गत था। पूर्व में वैशाली की सीमा उत्तर और पूर्व में विदेह तथा दक्षिण में मगध थी। वैशाली उस समय तीन भागों में[1] बंटा था। प्रथम भाग में उत्तम श्रेणी के लोग रहते थे जहां पर ७००० घर थे, जिनके शिखर स्वर्ण के थे। द्वितीय भाग में १४००० घर मध्यम श्रेणी के लोगों के थे, जिनके शिखर चान्दी के तथा तृतीय भाग में जघन्य श्रेणी के लोग रहते थे, जिनके २१००० घर थे। इनके शिखर ताम्र के थे। अतः ज्ञात होता है कि यह वैशाली उस समय तीन भागों में विभक्त था, जिनके नाम वैशाली (बसाड़), कुण्डपुर और वणियग्राम थे।

इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता पं० कल्याणविजयजी गणी का अभिप्राय इस प्रकार हैं :

"प्रचलित परम्परानुसार आजकल भगवान् की जन्म-भूमि पूर्व बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम की ओर आठ कोस पर अवस्थित लच्छ-आड़ गांव माना जाता है। पर हम इसको ठीक नहीं समझते। इसके अनेक कारण हैं—

(१) सूत्रों में महावीर के लिये 'विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहं सिकट्टु[2]" इत्यादि जो वर्णन मिलता है, इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश में अवतीर्ण हुए और वहीं उनका संवर्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित 'विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्या, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके' इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान् महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमार थे। एक जगह तो महावीर को 'वैशालिक' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आप का जन्म-स्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग रहा होगा।

(२) जब कि भगवान् ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षा चातुर्मास्य किये थे तब क्षत्रियकुण्डपुर में एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ आज माना जाता है वहीं होता तो भगवान् के कतिपय वर्षावास भी वहाँ अवश्य ही होते; पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा

१—राकहिल-रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' पृष्ठ. ६२।

२—सचित्र कल्पसूत्र ३० (१)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उसके उद्यान में भगवान् के आने जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। हां, प्रारम्भ में जब आप ब्राह्मणकुण्डपुर के बाहर बहुसाल चैत्य में पधारे थे तब क्षत्रियकुण्डपुर के लोगों का आप की धर्मसभा में जाने और जमालि के प्रव्रज्या लेने की बात अवश्य आती है।

भगवान् महावीर बहुधा वहीं अधिक ठहरा करते थे जहां पर राजवंश के मनुष्यों का आप की तरफ सद्भाव रहता। राजगृह-नालंदा में चौदह और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षावास होने का यही कारण था कि वहां के राजकर्ताओं की आप की तरफ अनन्य भक्ति थी। क्षत्रियकुण्ड के राजपुत्र जमालि ने अपनी जाति के पाँच सौ राजपुत्रों के साथ निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या ली थी। इससे भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रियकुण्डपुर जहां से कि एक साथ पाँच सौ राजपुत्र निकले थे कोई बड़ा नगर रहा होगा। तब क्या कारण है कि महावीर ने एक भी वर्षावास अपने जन्मस्थान में नहीं किया? इसका उत्तर यही है कि क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक भाग उपनगर था और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षा चातुर्मास्य हुए ही थे, जिनसे क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड के निवासियों को भी पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इस परिस्थिति में क्षत्रियकुण्ड में जाने आने अथवा वर्षावास करने सम्बन्धी उल्लेखों का न होना अस्वाभाविक नहीं है।

(३) भगवान् की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाकसंनिवेश में पारणा करने का उल्लेख है। जैन सूत्रों के अनुसार कोल्लाकसंनिवेश दो थे—एक वाणिज्यगांव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान् का जन्मस्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक में पारणा होना असम्भव था, क्योंकि राजगृहवाला कोल्लाकसंनिवेश वहाँ से कोई चालीस मील दूर पश्चिम में पड़ता था और वाणिज्यग्रामवाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसंगत होगा कि भगवान् ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्ड वन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीपवर्ती कोल्लाक में पारणा की।

(४) क्षत्रिय-कुण्ड में दीक्षा लेकर भगवान् ने कर्मारग्राम, कोल्लाकसंनिवेश, मोराक-संनिवेश आदि में विचरकर अस्थिकग्राम में वर्षा चातुर्मास्य बिताया और चातुर्मास्य के बाद भी मोराक, वाचाला, कनकखल, आश्रमपद और श्वेतविका आदि स्थानों में विचरने के उपरान्त राजगृह की तरफ प्रयाण किया और दूसरा वर्षावास राजगृह में किया था।

उक्त विहार-वर्णन में दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान् प्रथम चातुर्मास्य के बाद श्वेताविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर से विहार करने के बाद आप गंगानदी उतर कर राजगृह जाते हैं।

श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में पड़ती थी। यह भूमि-प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करना पड़ता था, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आस-पास न तो श्वेतविका नगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गंगा ही पार करना पड़ता था। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड—जो आजकल पूर्व बिहार में गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अंग देश में पड़ता है—नहीं है, किन्तु गंगा से उत्तर की ओर उत्तर बिहार में कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय-कुण्ड ही हो सकता है"।[1]

यहां पर यह खयाल हो सकता है कि प्राचीन वैशाली अर्थात् वर्तमान बसाढ़ ही यदि भगवान् महावीर की जन्मभूमि है तो वहाँ पर इस बात का कुछ न कुछ चिन्ह मिलना भी आवश्यक है। इसका स्पष्ट उत्तर तो यह है कि इस दृष्टि से वहां पर अभी तक कोई खोज हुई ही नहीं है। फिर भी इस प्रकरण में मैं सन् १९०२ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित वैशाली सम्बन्धी एक लेख और सन् १९०३—४ की 'आरकिओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' की रिपोर्ट की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित लेख का कुछ अंश इस प्रकार है :

"जैन मन्तव्यानुसार वैशाली में तीन जिले शामिल थे। जैसे, खास वैशाली, कुण्डग्राम और बनियाग्राम। इसके अतिरिक्त कोल्लाग एक प्रान्त था। वर्तमान बनिया-ग्राम वास्तव में प्राचीन वणिय-ग्राम है। इस ग्राम में बहुत से बड़े-बड़े टीले हैं। १० वर्ष पूर्व यहां पर खुदाई करने पर ग्राम से पश्चिम ५०० गज जाकर जमीन से ८ फुट के अनुमान खोदने पर दो जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां मिलीं हैं। उसमें एक पद्मासन और दूसरी खड्गासन थीं। .....यदि वनिया और कोल्हुआ के स्थानों की जांच की जाय तो जैन इतिहास का बहुतसा मसाला मिलेगा। मैं आशा करता हूं कि जैन और बौद्ध स्मारक मिले हुये मिलेंगे और उनके पहचानने में बहुत कठिनता पड़ेगी। क्योंकि जैन और बौद्ध दोनों में स्तूप, तोरणद्वार आदि एक से ही मिलते हैं।[2]

अब पाठक 'आरकिओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' की रिपोर्ट का अंश भी पढ़ लें: "इस वर्ष बसाढ़ में खुदाई की गई।• इस खुदाई में बहुत से बर्तन और मोहरें मिलीं। एक मोहर पर चरण-चिन्ह हैं जो किन्हीं जैन तीर्थंकर की पादुकाएँ होंगीं। इन मोहरों पर विद्यमान मंगल यन्त्रों से हमें यह फल प्रकट होता है कि ये मोहरें ब्राह्मणधर्म एवं जैनधर्म

१—'श्रमण भगवान् महावीर' की प्रस्तावना पृष्ठ XXV.

२—'बंगाल-बिहार-उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ २३—२५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

के मानने वालों की हैं, बौद्धों की नहीं। इनमें चरण-पादुकाएँ हैं, कलश हैं और त्रिशूल हैं। ये ही चिन्ह कटक में खण्डगिरि पर्वत की हाथी-गुफा के राजा खारवेल के शिलालेख में भी मिले हैं।[१]"

'आरकिऔलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' की १९१३-१४ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि बसाढ़ में फिर खुदाई हुई थी, जिसमें बहुत सी मोहरें निकली थीं। इनमें से बहुतसों में लेख भी मौजूद हैं। इन मोहरों में उपलब्ध नामों को जैन पुराणों के नामों से सावधानी से मिलान करने पर बहुतसी नई बातों का पता लग सकता है।

एक जमाने में वैशाली बहुत ही समृद्धशाली था। बल्कि ७ वीं शताब्दी तक वहां पर जैनधर्मावलम्बी प्रचुर संख्या में पाये जाते थे। चीन-यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि वैशाली में उन्हें जैनमतानुयायी अधिक संख्या में मिले थे।

उल्लिखित ये सब प्रमाण बसाढ़ को भगवान् महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने में अवश्य सहायक हैं।

अस्तु, विज्ञ पाठकों के समक्ष सिर्फ विचारार्थ मैंने अपनी एक राय उपस्थित कर दी है। कृपया इसे कोई अन्यथा समझने की चेष्टा नहीं करेंगे। अगर कोई विद्वान् नालन्दा के निकटवर्ती, पटना-जिलान्तर्गत कुण्डलपुर को ही भगवान् महावीर की जन्मभूमि प्रमाणित कर दें तो उसे मैं सहर्ष स्वीकार कर लूंगा। सच्चे अन्वेषक का लक्ष्य सदैव सत्य की ही खोज रहता है। आशा है कि अनुसन्धानप्रेमी अन्य जैन व जैनेतर विद्वान् भी इस विषय पर अपना विचार अवश्य प्रकट करेंगे। अन्त में एक अन्वेषक विद्वान् के शब्दों में 'क्या कोई भक्तवत्सल जैन मुजफ्फरपुर-जिलान्तर्गत उस गाँव (बसाढ़) की खुदाई कराकर भगवान् के जन्मस्थान का ठीक-ठीक पता लगाने का उद्योग करके पुण्य और यश का भागी बनेगा ?'

---

१ —'बंगाल-बिहार-उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ. २५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

देवराज द्वारा जैनधर्म की सहायता[1]

[ले० श्रीयुत बनारसीप्रसाद भोजपुरी, सा० रत्न, रचनानिधि]

यदि यह कहा जाय कि विजयनगर के हिन्दू राजाओं ने, हिन्दूधर्म के अनुयायी होते हुए भी, अन्य धर्मों का आदरपूर्वक सम्मान किया है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। उन्होंने यदि एक तरफ हिन्दूधर्म के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने धन को पानी की तरह बहाया हैं, तो दूसरी ओर अन्य धर्मों के अस्तित्व की रक्षा के लिए भी उन्होंने अपना परिश्रम और धन खर्च करने में जरा भी आनाकानी नहीं की है। निःसन्देह उन हिन्दूधर्म के कर्णधारों को सभी धर्मों और संस्कृतियों का पोषक और संरक्षक कहना न्यायसंगत होगा। हम उनकी महान् उदारता और धर्मवीरता का बखान किन शब्दों में करें जब हम देखते हैं कि जहां उनका एकमात्र संकल्प और व्रत केवल हिन्दूधर्म की रक्षा और प्रचार करना था, वहाँ उन्होंने अन्य धर्मों की रक्षा और प्रचार करने में भी उसा प्रकार की तत्परता दिखाई। बेशक, उन्होंने हिन्दूधर्म के 'सत्य, अहिंसा और प्रेम' के उच्चादर्श को पूर्णरूप से समझा था।

जैनधर्म को भी उन्होंने पर्याप्त सहायता पहुंचायी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। राजा भुक्कराय प्रथम का प्रभाव उनके उत्तराधिकारियों पर पूर्णरूप से वर्त्तमान था। यह एक बहुत ही संतोष और आनन्द का विषय है कि सर्व प्रथम विजयनगर की पटरानियों के मस्तिष्क में ही जैनधर्म का अंकुर पैदा हुआ। देवराय प्रथम की रानी भीमा देवी ने उन्हें जैनधर्म की ओर प्रवृत्त किया। उनके धर्मगुरु पंडिताचार्य थे। भीमादेवी के प्रयत्न से करीब १४१० (ए० डी०) में श्रवणबेल्गोल के मंगाइ बसदि में शांतिनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना की गयी थी। उपर्युक्त बसदि का निर्माण करीब १३२५ (ए० डी०) में बेल्गोल के मंगाइ के द्वारा हुआ था।

भीमादेवी के प्रभाव से देवराय प्रथम की उत्तरोत्तर जैन-मुनियों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। उन्होंने जैन मुनियों के प्रचार-कार्य में पूरी सहायता पहुँचायी। शिलालेख से पता चलता है कि विख्यात वक्ता वर्धमान मुनि के प्रधान शिष्य धर्मभूषण गुरु की विजयनगर के राजा देवराय प्रथम ने पूरी प्रतिष्ठा और सहायता की थी। उन्होंने जैनों के विख्यात केन्द्र श्रवणबेल्गोल से पूरा संपर्क स्थापित किया था। करीब १४२० (ए० डी०) में उन्होंने गौतमस्वामी के अर्चनार्थ, वृत्ति के निमित्त, मेपिनाड में बेलमे नामक गाँव दान में दिया था। राजकुमार हरिहर ने भी अपने पूज्य पिता का सच्चा अनुकरण किया। उन्होंने कनकगिरि की बसदि के लिए बहुमूल्य और अनुकरणीय दान दिया।

१ श्रीयुत बी० ए० सालेतोर की 'Mediaeval Jainism' के एक प्रकरण के आधार पर।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विजयनगर के राजा देवराय द्वितीय ने भी जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी। इन्होंने १४१९ (ए० डी०) से १४४६ (ए० डी०) तक शासन किया। १४२४ (ए० डी०) के करीब इन्होंने तुलु देश के वरंग नामक गाँव को वहीं के नेमिनाथ की बसदि के लिए दान में दिया।

कृष्णदेव राय के बारे में यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने अपने राज्य के विभिन्न संप्रदायों को एक नजर से बराबर देखा। उनकी सहृदयता और सच्ची शालीनता का इससे बढ़कर ज्वलंत उदाहरण क्या मिल सकता है कि उन्होंने अपने साम्राज्य से परे दो दूर प्रांतों में जैन मंदिरों के लिए दान दिया था। इसके अलावा उन्होंने चिंगलेपट जिलान्तर्गत कंजीवरम् तालुका स्थित तिरुप्परुत्तिकुणारु की तैलोक्यनाथ बसदि के लिए दान स्वरूप दो गाँव दिये थे। ये घटनाएँ १५१६ (ए० डी०) और १५१९ (ए० डी०) के बीच की हैं। उन्हीं दानवीर राजा ने १५२८ (ए० डी०) में सिप्पागिरि (अलूरु तालुक) की बसदि के लिए भी दान दिया था।

विजयनगर के राजाओं में देवराय का नाम जैन-बसदि-निर्माण-कार्य में सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इन्होंने जैन-बसदि-निर्माण-कार्य के अलावा सभी धर्मों में पारस्परिक सद्भावना कायम रखने की पूरी चेष्टा की थी। ये इस्लाम-धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए कुरान शरीफ को अपनी बगल में रखते थे। इन्हीं की उदारता का फल था कि राजधानी में पार्श्वनाथ-बसदि का निर्माण हो सका।

जैनधर्म के इतिहास में जेनरल इरुगप्प का नाम भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। वे अपने काल के एक विख्यात जैन जेनरल थे। उन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिए चिरस्मरणीय कार्य किया है। शिलालेख में उनकी वीरता का बखान करते हुए कहा गया है कि जेनरल राजकुमार इरुगप्प जिस समय युद्ध भूमि के लिए प्रस्थान करते थे उस समय उनकी अश्वारोही सेना की घुड़दौड़ से आकाश धूलाच्छादित हो जाता था, और सूर्य्यदेव को अपनी रश्मियाँ छिपा लेनी पड़ती थीं। बात की बात में उनकी सेना शत्रुओं के समीप पहुँच जाती थी, जिससे शत्रुओं का हाथ बँध जाता था। एक ओर यदि उनकी वीरता चढ़ी-बढ़ी थी, तो दूसरी ओर उनकी धार्मिकता भी अपना शानी नहीं रखती। वे जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। उन्होंने १३८२ (ए० डी०) में तिरुपरुत्तिकुणरु की त्रैलोक्यनाथ-बसदि के लिए भूमि-दान किया था। उस वक्त विजयनगर के राजा हरिहर राय द्वितीय थे। जेनरल इरुगप्प के गुरु पुष्पसेन थे।

हरिहरराय द्वितीय के समय जेनरल इरुगप्प मंत्री के पद पर आसीन थे। उन्होंने राजधानी में कुन्थु जिननाथ का चैत्यालय बनवाया था। इसका निर्माण-कार्य १६ फरवरी १३८६ (ए० डी०) को समाप्त हुआ था। आजकल भूल से लोग इसे गाणगित्ति मंदिर के नाम से पुकारा करते हैं। इस शिलालेख में जिन जैन-गुरु सिंहमंदी का नाम अंकित है, वह

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वही सिंहनंदी आचार्य हैं, जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल में प्राप्त करीब १४०० (ए० डी०) के कागज-पत्रों में मिलता है।

इरुगप्प सिर्फ कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, बल्कि एक योग्य इञ्जिनर भी थे। १३९४ (ए० डी०) में उन्होंने कुणिगल के तालाब से नहर निकाली थी। उक्त नहर पर प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि इरुगप्प संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे और उन्होंने संस्कृत में 'नानार्थरत्नाकर' नामक कोष लिखा था। उन्होंने १४०३ (ए० डी०) में हरिहरराय द्वितीय के शासन-काल में मंत्रिपद को योग्यता के साथ निभाया और ऊँचे राजपद पर राजा देवराय द्वितीय के शासन काल तक बने रहे। १४२२ (ए० डी०) के करीब श्रवणबेल्गोल के शिलालेख से पता चलता है कि जेनरल इरुगप्प ने जैन गुरु श्रुतमुनि के सम्मुख बेल्गोल नामक ग्राम को गुम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान में दिया था। १४४२ (ए० डी०) के करीब प्राप्त शिलालेख से इस बात की पूरी पुष्टि हो जाती है कि इरुगप्प देवराय द्वितीय के शासन-काल में एक ऊँचे सरकारी पद पर वर्त्तमान थे। उसमें लिखा है कि जैन कमांडर इरुगप्प गोवा और चन्द्रगुट्टि के वायसराय के पद पर विराजमान थे। तात्पर्य यह कि उन्होंने करीब ५९ वर्षों तक (१३८३ ए० डी से १४४२ ए० डी० तक) विजयनगर की सरकार के ऊँचे सरकारी पदों को योग्यता पूर्वक निबाहा। वे उतने समय तक जैनधर्म की उन्नति के लिए बराबर तत्परता से कार्य करते रहे, और हर तरह की सरकारी सहायता पहुँचाते रहे।

इरुगप्प के भाई जेनरल बैचप्प ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। यहीं तक नहीं, बल्कि इरुगप्प के अन्य साथियों ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की और इसके प्रचार में काफी तत्परता और संलग्नता प्रकट की।

इरुगप्प के वक्त में एक और मशहूर राज-अधिकारी ने जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। उनका नाम महाप्रधान गोप चमूपति था। उनकी वीरता और कार्य-क्षमता की ए० डी० १४०८ के शिलालेखों में पूरा जिक्र मिलता है। वे पक्के जैनी थे। जैनधर्म के प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम सराहनीय है। उन्हीं की तरह दो और राज-आफिसरों ने जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी थी, जिनमें एक का नाम था मसनहल्लि कन्पन्न गौड़। इन्होंने १४२४ (ए० डी०) में बेल्गोल के गुम्मट स्वामी के पूजार्थ तोत हल्लि नामक ग्राम दान में दिया था। दूसरे का नाम वल्लभ राजदेव महाअरसु था। ये महामंडलेश्वर श्रीपति राजा के पोता थे। इन्होंने भी जैनधर्म को हर तरह की सहायता पहुँचायी थी। इस प्रकार जब हम विजयनगर राज का इतिहास देखते हैं, तो हमें कहना पड़ता है कि वहाँ के राजाओं में जैसी स्वधर्म के लिए सच्ची कट्टरता थी, उसी प्रकार अन्य धर्मों के लिए महान् उदारता भी थी। खास कर जैनधर्म का तो उनके द्वारा पर्याप्त प्रचार हुआ है, जिसके लिए जैन-समाज उन दूरदर्शी, योग्य और उदार राजाओं का चिर आभारी रहेगा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उपाध्याय मेघविजय के दो नवीन ग्रन्थ

[ले० श्रीयुत अगरचन्द, नाहटा]

भारतीय प्राचीन जैन ज्ञानभंडारों में यद्यपि जैसलमेर, पाटण, खंभात आदि स्थानोंके ज्ञानभंडार विशेष प्रसिद्ध हैं। पर हस्तलिखित प्रतियों की संख्या के लिहाज से मेरे खयाल से बीकानेर जैसा गौरव किसी भी स्थान को प्राप्त नहीं है। यहाँ के विविध संग्रहालयों में करीब ४०-५० हजार हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनमें सैकड़ों जैन एवं जैनेतर ग्रन्थरत्न ऐसे भी हैं जिनकी प्रतियाँ अन्यत्र कहीं भी प्राप्त-ज्ञात नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही दो अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थरत्नों का परिचय प्रकाशित किया जा रहा है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तपागच्छ के तीन महाविद्वानों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, वे हैं—१ उ० विनयविजय २ उ० यशोविजय और उ० मेघविजय। इनमें प्रथम सिद्धान्तशास्त्र, दूसरे न्यायशास्त्र और तीसरे काव्यशास्त्र के पारंगत रूप से प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम का स्वर्ग सं० १७३८ द्वितीय का सं १७४५ और तृतीय का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १७२७ से १७६० तक हैं। उपाध्याय मेघविजय विविध विषयों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने काव्य में पादपूर्त्ति+ की जो चमत्कृति दिखाई है वह अपूर्व है—माघ की पादपूर्ति रूप में देवानंदाभ्युदय, मेघदूत की पादपूर्ति में मेघदूतसमस्यालेख, नैषध की पादपूर्ति में शांतिनाथचरित्र बनाया एवं दिग्विजय महाकाव्य तथा सर्वोच्च सप्तसंधान-काव्य रच कर अपनी अपूर्व विद्वत्प्रतिभा का विश्व को अनोखा परिचय दिया। आपने लोकसाहित्य में पंचाख्यान, कथासाहित्य में लघु त्रिषष्ठिचरित्र, व्याकरण में चंद्रप्रभा, ज्योतिष में उदयदीपिका, वर्षप्रबोध (मेघमहोदय), रमलशास्त्र, सामुद्रिक में हस्तसंजीवन, मंत्र पर वीसायंत्रविधि, आध्यात्म में मातृप्रसाद, खंडन में युक्तिप्रबोध और धर्ममंजूषा इत्यादि अनेक ग्रन्थ रचे हैं। प्राकृत, संस्कृत एवं लोकभाषा इन तीनों में आप की रचनाएँ प्राप्त हैं। जिससे विविध भाषाओं एवं विषयों पर आपका प्रभुत्व प्रतीत होता है। आप की दो नवीन रचनायें हमारी खोज से बीकानेर के जैन भांडारों में प्राप्त हुई हैं जिनका परिचय कराना ही इस लेख का उद्देश्य है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ व्याकरण विषयक है और इसकी प्रति हमारे संग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरा ग्रन्थ न्याय पर है और उसकी प्रति स्थानीय बृहत् ज्ञानभांडार के अंतर्वर्ती भुवनभक्तिभांडार में है। इन ग्रन्थों का विशेष परिचय इस प्रकार है :—

+ देखें, मेरा लेख 'जैनपादपूर्ति साहित्य'—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भा० ३, किरण २-३।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१ शब्दचंद्रिकाः—इस ग्रन्थ के तीन प्रकाश हैं और २४ पत्र की प्रति हमारे संग्रह में है। खेद है कि प्रति के ऊपर के किनारे के मध्य में किसी जन्तु के गोल काट देने के कारण उस स्थान का पाठ सब पत्रों में खंडित हो गया है। प्रतिलिपि सुन्दर है। पर अक्षर जैनेतर प्रतीत होते हैं। प्रति संवत् १७६१ की लिखी हुई है अर्थात् ग्रन्थकार के समय की ही है। ग्रन्थ में रचना संवत् नहीं दिया गया है। पर सं० १७६१ में प्रति लिखी हुई है। अतः इससे पूर्व का ही निश्चित होता है। प्रति का प्रथम पृष्ठ एवं अंतिम पृष्ठ का पौना भाग रिक्त है। अवशेष पत्रों के प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति १०, व प्रतिपंक्ति वर्ण ४५ करीब हैं।

आदिः—॥ ॥ **ह० ॐ शंखेश्वरपार्श्वं, ह्रीं नत्वा बालाय ·· ·····।**

····· ·····(हे) मचंद्रस्य, चंद्रिकासौ निरूप्यते ॥

अर्हं पदं सदा ध्येयं कल्याणैकश्रिये सता (सदा)

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख इत्यादि—

प्रथम प्रकाश के अंत में :—पंत्रांक १२ A.

श्रीविजयप्रभसूरेः प्रेष्यः शिष्यः कृपादिविजयकवैः ।
श्रीमेघविजयवाचकवरोऽभ्यधाच्चंद्रिकास्यादौ ।

इतिशब्दचंद्रिकायां प्रथमप्रकाशः

(पत्रांक A में भी हीरविजयसूरि, विजयसेन, विजयदेव, विजयप्रभसूरि का नाम आता है)

द्वितीय प्रकाश के प्रारंभ में---

श्रीनाभिभूः सरस्वत्यां, दिष्द्या दष्द्या रसंदधत् ।
सुमंगलान्वितः शंभुः सृष्टे धातुर्जयश्रिये क्रियार्थो धातुर्भ्वादि ॥

× × ×

अंत :---उपरोक्त श्लोक के बाद :---

इति श्रीसिद्धहेमचंद्रव्यकरणस्य शब्दचंद्रिकायां द्वितीयप्रकाशः ।

तीसरे प्रकाश का आरंभ पत्रांक २१ B

आदिः---**श्रीपार्श्वो जयतु श्रीऋषभनाथः श्रियेऽस्तु ।**
आनुमोऽत्यादिः कृत्वक्त्यमाणः प्रत्ययः ।

× × ×

अंतः---उपर्युक्त श्लोक के पश्चात् :---**प्रौटाया; सरसाभावा वृत्तेः केकेनशर्मदाः ।**
एकैवास्याश्रुमुग्धा या रूपश्रीरस्तु नर्मदा ।२।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

स.....मेघाभ्युदयनंदिनी ।
सौरप्रभावादालोकं चंद्रिका जयताच्चिरं ।
शाविबुधैः पीयमानासौ नयनानंददा.....
.....गर सोल्लासात् पुष्णातु विजयश्रियं ।४

इति श्रीशब्दचंद्रिकायां तृतीयः प्रकाशस्तत्पूर्त्तौ ग्रंथोपि संपूर्णश्रियमशिश्रेयत् ॥शुमम् संवत् १७६१॥

२ मणिपरीक्षा :—प्रस्तुत ग्रन्थ में ४ विमर्श हैं और प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय के चिन्तामणि ग्रन्थपर इसमें आलोचना है। प्रति ८ पत्र की है। प्रत्येक पृष्ठ में पंक्तियाँ २१ से २४ व प्रतिपंक्ति अक्षर ५० के करीब है। प्रथम पृष्ठ रिक्त एवं अंतिम पत्र में केवल ३ ही पंक्तियाँ लिखी हुई हैं। कहीं कहीं किनारों पर टिप्पणी भी लिखी हुई है। प्रति में लेखन एवं रचना-समय नहीं हैं। ग्रन्थ का विशेष विवरण इस प्रकार है :—

आदिः—**तर्कश्चिंतामणौ कार्यः स्मृत्वा स्याद्वादिनं जिनं ।**
विशिष्य शिस्यबोधाय धार्यश्चात्रौपदिश्यते ॥१॥

तत्राप्यादावनुमानपरिच्छेदव्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानमनुमितिः तत्करण-मनुमानमिति प्रथमतो लक्षणं तस्यार्थः । इत्यादि

द्वितीय विमर्श के प्रारंभ में :—

अथ न्यायांगमुख्यत्वात् व्याप्तिः किंचिद्विचार्यतौ ।
चिंतामणौ श्रीगंगेशोपाध्यायोक्तेऽस्य सन्निधेः ।१।

तृतीय विमर्श प्रारंभ :—**अथ उपाधिसाधितविमर्शः । इत्यादि**

चतुर्थ विमर्श प्रारंभ :—**अथ एवं भावत्वव्यावृत्याध्वंसे जन्यत्वानित्यत्वयोः संबंधो निवर्त्तमानः पक्षधर्मताबला × पक्षधर्मतापि विमृश्यते × इत्यादि**

अंतः—**मणेः परीक्षा मणिकर्णिकेव पूर्णारसैः स्वारसिकैर्मुदैव ।**
गंगेश्वरश्रीगृहसंनिधाना, ध्यानोऽवधार्या शिवपूर्वतुर्या ।१।
भानुदयसदाध्याय बुद्ध्यायश्चाप्लवं सृजेत् ।
अस्यामश्याय धीरर्हस्तुष्टस्तस्येह सुश्रिये ।२।
श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेशस्य सेवको मेघः ।
सम्यक्त्वशुद्धिसिद्धेः कृतवानेतां मणिपरीक्षां ।३।

इति श्रीमणिपरीक्षायां चतुर्थो विमर्शः ॥

उक्त दोनों प्रतियों के उदाहरण अक्षम्य अशुद्धियों से भरे पड़े हैं। सं०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्री कल्याणविजयजी

[ले० श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, डी. एल., एम. आर. ए. एस.]

मैंने पहले-पहल श्वेताम्बर साधु स्व० श्री विजयधर्म सूरिजी को देखा था। वह अलीगंज होकर निकले थे। उनकी विद्वत्ता और निर्भीक चर्या का प्रभाव मेरे मन पर पड़ा था। उपरान्त साहित्यिक प्रसंग में श्वेताम्बर साधुगण श्री विद्याविजयजी, स्व० श्री हिमांशु-विजयजी, वयोवृद्ध चौथमलजी प्रभृति से भी मेरा परिचय हुआ। मुझे श्वेताम्बर यतिवर्ग पर गर्व था; वह निस्सन्देह उपर्युल्लिखित विद्वज्जनों से समलंकृत है। किन्तु इसके साथ ही श्री 'जैन सत्यप्रकाश' में प्रकाशित कतिपय श्वेताम्बर साधुओं के लेखों की विचारसरणी से मुझे अनुभव हुआ कि सब ही चमकनेवाली चीज सोना नहीं होती। श्वेताम्बरीय यतिसमुदाय में साम्प्रदायिकता के पोषक कतिपय पक्षपाती साधुओं के करतब अचम्भे में डालनेवाले हैं— सम्प्रदायवाद के पोषण में वह शायद अपने सत्यमहाव्रत की रक्षा करना आवश्यक नहीं समझते! यही कारण है कि 'हिमवन्त थेरावली' जैसी जाली और कल्पित पट्टावलियां एवं झूठे फरमान यह लोग उपस्थित कर सके हैं।[1] इसी 'हिमवन्त थेरावली' के आधार पर एक समय श्री कल्याणविजयजी ने सम्राट् खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का असफल उद्योग किया था; परन्तु श्री जिनविजयजी ने उस 'थेरावली' को ही झूठा सिद्ध किया जिस पर श्री कल्याणविजयजी ने वह लेख लिखा था।[2] इन्हीं श्री कल्याणविजयजी ने एक पुस्तक "श्रमण भगवान् महावीर" नामक लिखी है, जो श्री क० वि० शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर द्वारा संवत् १९९८ में प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक के अन्तिम भाग में विद्वान् लेखक ने 'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प' पर विवेचना करते हुये, दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति पर अद्भुत प्रकाश डाला है, जिसका न कोई सिर है और न पैर।[3] पहले ही आपने दोनों

१ 'अनेकान्त' वर्ष १ पृ० ३५१-३५२ में 'हिमवन्तथेरावली' को जाली प्रकट किया गया है। श्री सम्मेदशिखिरजी के मुकद्दमे में ऐसे फरमान पेश किये गये जो जाली थे। उनके विषय में माननीय जज ने अपने फैसले में लिखा था :—

"They (Firmans) will appear to be matlabi on the face of them and to have been got up for the purpose of disputes."

—Parasnath Hill Judgment p. 32

२ "अनेकान्त" की प्रथम वर्ष की फाइल देखो।

३ षष्ठ परिच्छेद, पृ० २८५-३५०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'कल्पों' का स्वरूप दिगम्बर और श्वेताम्बर मतानुसार इस ढंग से लिखा है कि दोनों में बजाहिर कुछ अन्तर ही नहीं दिखता। अतः सब से पहले हम इस पर ही विवेचन करेंगे।

दिगम्बरमत : दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम उल्लेख से स्पष्ट है कि उसके निकट साधुवेष दिगम्बरत्व में निहित रहा है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित साधु ही निर्ग्रन्थ हो सकता है।[१] तिलतुषमात्र परिग्रहरहित यतिवेष ही प्रशंसनीय और मोक्ष का साधन है। जिनेन्द्र ने इसी का उपदेश दिया है। प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट इस यतिधर्म को माननेवाले ही निर्ग्रन्थ साधु हैं।[२] अन्य लोग जो वस्त्रादि धारण करते हैं, वह भृष्टाचारी हैं।[३] यथाजातरूप निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ ही पूज्य हैं—यही जिनलिङ्ग है! इस जिनलिङ्ग के चार चिन्हों में सर्वप्रथम आचेलक्य (नग्नत्व) है, जिसमें साधु को वस्त्रादि सब ही परिग्रह का त्याग कर देना होता है।[४] उसके साथ केशलुञ्चन, शरीरव्युत्सर्ग (शरीर से अममत्वभाव) और प्रतिलेखन भी निर्ग्रन्थलिङ्ग के चिन्ह हैं। प्रतिलेखन से भाव जीव-दया के उपकरण मयूरपिच्छिका है। इस जिनलिङ्ग को वे ही महाभाग धारण करते हैं जो श्री जिनेन्द्र के समान होना चाहते है—निर्ग्रन्थ रूप जिनेन्द्र का प्रतिबिम्ब ही है।[५]

---

१ 'जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥६॥
प्रवचनसार अ० ३

२ 'ततः सङ्गद्वयत्यक्तं जिनलिङ्ग प्रशस्यते। ससम्यक्त्वस्य जीवस्य मोक्षसौख्यस्य साधनम्।'
भद्रबाहुचरित्रः।

'णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥१३४॥'—भावसंग्रहः।

३ 'जे पुण भूसियगंथा दूसियणिग्गंथलिंग वयभट्टा।'—भावसंग्रहः।

४ 'आचेलक्कं लोचो, वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो, चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'—भगवती आराधनाः।
× × × ×
'आचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णादव्वो ॥९०८॥'—मूलाचारः।
× × × ×
'चेलाविसव्व संगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इह पर लोइयदोसे, सव्वे आवहदि संगोहु ॥२२॥'—भगवती आराधनाः।

५ 'जिणपडिरूवं विरियाग्यारो, रागादिदोस परिहरणं।
इच्चेवमादिवहुगा, आचेलक्के गुणा होंति ॥८७॥'—भगवती आराधनाः।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस निर्ग्रन्थलिङ्ग के दो भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं, (१) जिनकल्प और (२) स्थविरकल्प[१]। यह भेद मुनिजनों के संहनन, चारित्र और ज्ञान के विशेषत्व की अपेक्षा ही कहे जा सकते है; वरन् हैं दोनों एक ही चीज़! जिस प्रकार सामान्यकेवली और विशेषकेवली में केवल-ज्ञान की अपेक्षा कोई भी भेद नहीं है—दोनों ही त्रिकालज्ञ त्रिलोकदर्शी हैं, उसी प्रकार जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि धर्म की अपेक्षा से अभिन्न हैं। उपर्युल्लिखित मुनिलिङ्ग के चार चिन्हों से जिनमें आचेलक्य (दिगम्बरत्व) सर्वप्रथम है, दोनों ही प्रकार के मुनिजन समलंकृत रहते हैं।

जिनकल्पी मुनि की विशेषता साधारण मुनि, जो स्थविरकल्पी कहे गये हैं उनसे निम्नलिखित विशेषताओं के कारण है :[२] "ऐसे मुनिराज सम्यक्त्वरत्न से विभूषित अर्थात् भावलिङ्गी होते हैं—अपनी इन्द्रियों को वह पूरी तरह वश में किये होते हैं। उनका ज्ञान इतना विशाल होता है कि एकाक्षर के समान एकादशाङ्ग शास्त्र के ज्ञाता होते हैं। उनकी सहनशीलता चरमसीमा की होती है—कदाचित् उनके पांव में कांटा लग जावे अथवा आंखों में रजकण गिर जावे तो उसे न वे स्वयं निकालते हैं और न दूसरों से कहते हैं कि तुम निकाल दो। वह निरन्तर मौन सहित रहते हैं। वह उत्तम—वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक होते हैं। गिरि-गुहाओं वन-कन्दराओं आदि निर्जन स्थानों में रहते हैं। वर्षाकाल में जब मार्ग जीवों से पूर्ण हो जाते हैं तो वह छह मास पर्यन्त निराहार रहकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं। सर्वपरिग्रह रहित और रत्नत्रय से भूषित वे मोक्ष की साधना में लीन रहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही वे सदा निरत रहते हैं। उनके रहने के स्थान का कोई पता नहीं होता और वे जिन भगवान् के समान एकाकी विहार करनेवाले होते हैं।"[३]

---

१ 'दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तम संहणण धारिस्स ॥११३॥'—भावसंग्रहः

× × × ×

२ "सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥
जत्थ ण कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सये मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥१२०॥
जलवरिससवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा काओ सग्गेण छम्मासं ॥१२१॥
एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेस कसाया मोणवई कंदरावासी ॥१२२॥
वहिरंतर गंथ चुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पो ठिया सवणा ॥१२३॥"—भावसंग्रहः

३ 'भद्रबाहुचरित्र', परिच्छेद ४ श्लोक १०४—११०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ये विशेषतायें ही उन्हें जिन भगवान् के सदृश चर्यायुक्त होने के कारण जिनकल्पी ठहरातीं हैं। श्री अपराजित सूरि ने संक्षेप में यही कहा है कि जो मुनि राग, द्वेष और मोह को जीतनेवाले हैं—उपसर्ग-परीषहों को समभाव से सहते हैं और जिनेन्द्र के समान विहार करते हैं वह जिनकल्पी हैं।[१]

स्थविरकल्पी मुनि जिनसंघ में रहने वाले सामान्य निर्ग्रन्थ साधुओं का द्योतक है। शास्त्रों में इनका वर्णन यूँ मिलता है :[२] "जिनलिङ्ग के धारक अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त और सम्यक्त्वरत्न से समलंकृत साधु स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ हैं। उनका अधिकांश समय ध्यान अध्ययन में व्यतीत होता है। पञ्चाचार का वे पालन करते हैं, उत्तम, क्षमादि दशधर्म से

---

१ 'जितरागद्वेषमोहा उपसर्गपरीषहारि वेग सहाः जिनाइव विहरन्ति इति जिनकल्पिकाः।
—विजयोदयाटीका, ३।१५५

यह उल्लेख हमें श्रीयुत पं० परमानन्द जी से प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम उनका आभार मानते हैं। हमारे संग्रह की एक हस्तलिखित पोथी में 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक रचना है। उसमें कतिपय गाथाओं को उद्धृत करके निम्न प्रकार वर्णन लिखा है :—

"भूमि सयनं लुंचो वे बे मासेहि असहनिजासो (?), बावीस परीसा सहियं असहि जाणेनिचंपी ॥४४॥
निग्गंथ पवयनं जिनवरनाहेन अखियं परमं; तंतंभि उनआनं पंच मानो नमिछन्नं (?) ॥४५॥
वहिरंतरंगं गंथ चूया निनेहा निप्पयजय वयने; जिनइवा विहरंति सय ते जिनकप्पो ठिया सवना॥४६॥
थिवर कप्पो विकहाउ, अनगारा तं जिनेसनिए; सो पंचय चेलय चाउ आर्किचनत्तचपडिलहनं ॥४७॥
(चौपई) बाहिर अंतर परिग्रह छोडि; मौन रहे निःसनेही जोर।
पंच चेल तजि जिनवर जिसो, जिनकल्पी मुनि कहिये इसो ॥४८॥", इत्यादि।

२ "थविर कप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचचेल चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥१२४॥
पंच महव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायंणे भिक्खं ॥१२५॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहिं अणवरयं।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पडिरुवपडिगहणं ॥१२६॥
संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण।
पुरणायर गाम वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥१२७॥
उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥१२८॥
समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥१२९॥
संहणणं अइणिचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभर धरणउच्छहिया ॥१३०॥—भावसंग्रहः।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सदा विभूषित रहते हैं। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त होते हैं। खड़े-खड़े विधि से दिन में एक दफा करपात्र पर भोजन करते हैं। मणि-तृण, नगर-वन, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, सब में समभावी होते हैं। मोह-मान आदि से उन्मत्त नहीं होते। धर्मोपदेश के समय बोलते हैं—शेष समय मौन रहते हैं। सुन्दर मोर पिच्छिका प्रतिलेखन (शोधन) के लिये धारण करते हैं। वे संघ के साथ-साथ विहार करते है। धर्मप्रभावना करने में निरत रहते हैं और अपने शिष्यों का संरक्षण करते हैं। वृद्ध साधुसमूह की वैयावृत्ति करने में सावधान रहते हैं। इसीलिये महर्षिगण उनको स्थविरकल्पी कहते हैं।"[1] पूर्वोक्त 'सिद्धान्तशिरोमणि' में इनके विषय में उल्लेख है कि :—

"थिवरकल्पी मुख सौं कहैं वाणि। नीरस भोजन लेंय सकति परिमाण॥
आकिंचन पंच चेला तजैं। तासौं थिविरकल्पी कहि बजैं॥४६॥"

सारांश यह कि सब प्रकार के हीन संहननवाले मुमुक्षु जिनलिङ्ग को धारण कर के मुनिसंघ में रहकर आत्मकल्याण करते हैं, वे मुनिजन स्थविरकल्पी कहलाते हैं। यही दो प्रकार का मुनिकल्प जिनेन्द्र ने कहा है। शेष सग्रंथ (सवस्त्र) कल्प मात्र पाखंड हैं![2]

श्वेताम्बर मत : साधु का वेष क्या होना चाहिये अथवा मुक्ति किस लिङ्ग से प्राप्त की जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में श्वेताम्बरों की प्राचीन मान्यता दि० जैनों से प्रायः अभिन्न है। श्वेताम्बरीय 'आचाराङ्गसूत्र' में भिक्षु के लिये परमधर्म आचेलक्य ही बतलाया है अर्थात् साधु को दिगम्बर वेष धारण करना चाहिये।[3] प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने इसी धर्म का प्रतिपादन किया और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने भी उसी को धारण किया।[4] म० महावीर के शिष्य जो साधु हुये उन्हें नग्नवेष धारण करना पड़ता था। राजा उदयन, ऋषभदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[5] म० महावीर ने स्पष्ट कहा था कि निर्ग्रन्थ श्रमण को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमिशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्यपालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना और आहार की वृत्ति का पालन करना

१ भद्रबाहुचरित्र, प० ४ श्लोक १११-१२०

२ 'एवं दुविहो कप्पो परमजिणंदेहिं अक्खिओ णूणं।
अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ॥१३२॥—भावसंग्रहः

३ 'जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एव·····।' १५१—आचाराङ्ग; 'तं वोसज्ज वत्थ-मणगारे।'—२१० आचाराङ्ग; प्रो० जैकोबी ने 'अचेल' शब्द का अर्थ नग्नता (nudity) किया है (Jaina Sutras, SBE, I. p. 56) श्वे० 'प्रवचनसारोद्धार' (भा० ३ पृ० १३) से भी यही प्रकट है।

४ कल्पसूत्र (जैनसूत्र) S. B. E., भा० १ पृ० २८५

५ ऋषभदत्त के विषय में कहा गया है कि जिस प्रयोजन के लिये उन्होंने नग्नता धारण की थी, उस अर्थ—निर्वाण को प्राप्त किया ("जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ।"- भगवतीसूत्र, शतक ६ उद्देशक ३३. उदयन कथा में यही बात उदयन के विषय में कही गई है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अनिवार्य है।[१] आगामी तीर्थङ्कर महापद्म भी ऐसा ही उपदेश देंगे। उन्होंने अचेलक (दिगम्बर) निर्ग्रन्थ मुनियों को सचेल (सवस्त्र) आर्यिकाओं से अलग रहने के लिये सावधान भी किया था।[२] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बरीय मान्यता भी प्राचीन निर्ग्रन्थलिङ्ग अचेलक (दिगम्बर) ही प्रकट करती है। सवस्त्र साधुत्व वाद की सूझ है और साधुओं द्वारा कल्पित है। श्री कल्याणविजय जी ने इस विषय पर श्वेताम्बरीय मत का उल्लेख निम्न-लिखित शब्दों में किया है :—

"श्वेताम्बर जैनों के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों में जिनकल्प की व्याख्या करते हुये उसकी योग्यता के विषय में लिखा गया है कि वज्रऋषभनाराचसंहननवाला और साढ़े नव पूर्व के ऊपर तथा दश पूर्व के भीतर श्रुत पढ़ा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं। (१) पाणिपात्र भी उपधि भेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे।..... सूत्रकालीन स्थविरकल्पिकों का वर्णन इस प्रकार है : 'जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी चतुर्थ वस्त्र मांगने की इच्छा नहीं करना चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर मांगने चाहिये और जैसे मिले वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, न धुले-रंगे वस्त्रों को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्पवस्त्रवान होकर फिरे। यही वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे वा कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रखकर बाकी त्याग दे अथवा बिल्कुल अचेल बन जाय।"

इस उद्धरण से पाठक श्वेताम्बर मान्यता को जान सकते हैं। श्री कल्याणविजयजी ने आगे एक पात्र और दो वस्त्रादि के विधान का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि यदि लज्जा प्रतिच्छादन को न छोड़ सके तो कटिबन्ध रख ले। भाष्यकाल में उपकरणों में कुछ वृद्धि हो गई और कटिबन्ध का स्थान चोलपट्ट ने ले लिया। इस प्रकार श्वेताम्बरीय मत से जिनकल्प और स्थविरकल्प की व्याख्या है।

---

१ 'से जहानामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणुवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथांणं नग्गभावे जाव लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पन्नवेहिंत्ति।'—ठाणाङ्ग सूत्र (हैदराबाद) पृ० ८१३; 'सूत्रकृताङ्ग' (पृ० ७२) में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों को मुंडे सिर नंगे फिरनेवाला लिखा है। (नगिणापिंडोल गाहमा। मुंडाकंडूविणट्ठंगा।)

२ ठाणाङ्गसूत्र पृ० ५६१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दोनों मतों में अन्तर : अब दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यता का भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पाठक देख सकते हैं कि दिगम्बर मान्यता दोनों ही कल्पों में आचेलक्य को प्रधानता देती है—दिगम्बरत्व के विना निर्ग्रन्थत्व बन ही नहीं सकता। इसके विपरीत श्वेताम्बर मान्यता जिनकल्पी साधुओं के लिये तो दिगम्बर रहना आवश्यक ठहराती है, परन्तु स्थविरकल्पी साधुओं को लंगोटी से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करने की अनुमति देती है और यह साधु की खुशी पर निर्भर है कि वह अचेलकव्रत पाले या नहीं। जिनकल्पी के लिये भी चादरें रखने की छूट है। यह कैसी विडम्बना है ? जब सवस्त्रदशा से मोक्ष मिल सकता है तो कोई क्यों नंगा होने लगा ? तब नंगा होने की आवश्यकता ही क्या रही ? उस पर मज़ा यह है कि यदि साधक लज्जा के कारण प्रतिच्छादन न छोड़ सके तो कटिबन्ध रखने का भी विधान है—उस अवस्था में भी वह मोक्ष पा सकेगा ! लज्जा एक दोष है—उसको छिपाने के लिए ही वस्त्र रक्खा जाता है, यह बात श्वेताम्बर भी मानते हैं। फिर लज्जादोष के रहते हुए मोक्ष कैसे संभव हो सकता है ? इसके अतिरिक्त भ० महावीर ने श्रमणत्व के लिये सामान्य रूप में सब ही के लिए जो नग्नभाव-मुंडभाव आदि का विधान किया, वह कैसे बन सकता है ? जब पहले पहले सब ही मुनि स्थविरकल्पी वस्त्रधारी होते थे और उनमें से केवल वज्रवृषभनाराच संहननधारी[1] विरले ही जिनलिङ्गी हो पाते थे—क्योंकि इस उत्तम संहनन का धारी हर कोई तो होता नहीं, तो फिर भ० महावीर के संघ में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ ही होना चाहिये—नंगे जिनकल्पी तो अत्यल्प होना चाहिये। इस अवस्था में श्रमणत्व का मुख्य लक्षण और उद्देश्य 'नग्नभाव' कैसे सिद्ध हो सकता होगा ? श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी भी जैनेतर ग्रन्थ, शिलालेख या मूर्ति से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि जैनमुनि वस्त्र पहना करते थे। कोई भी ऐसी मूर्ति किसी तीर्थङ्कर या मुनि की उस प्राचीन समय की नहीं मिली है जो वस्त्रयुक्त हो और श्वेताम्बरों की मान्यता को पुष्ट करे ! जब श्वेताम्बर मतानुसार पहले और अन्तिम तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्कर वस्त्रधारी श्रमण हुये थे, तो उनकी वैसी मूर्तियाँ क्यों नहीं बनाई गईं ? प्राचीन जैनियों की यदि यही मान्यता थी तो उन्होंने अपनी श्रद्धा के विपरीत मध्यवर्ती तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ दिगम्बर (नग्न) क्यों बनाई ? क्यों श्वेताम्बर मत के आचार्यों ने मथुरा में दिगम्बर मूर्तियों को ही पूज्य माना ? सबे प्राचीन उपलब्ध जिनप्रतिमायें पटना के पास से प्राप्त हुई हैं—वे मौर्यकालीन दिगम्बर प्रतिमायें हैं[1] और फिर श्वेताम्बरों ने दिगम्बर-वेषी जिनकल्पी मुनियों को वस्त्रधारी से अधिक विशुद्ध क्यों माना ? (आउरण वज्जियाणं विसुद्ध जिणकप्पियाणन्तु—प्रवचनसारोद्धार भा० ३ पृ० १३) 'आचाराङ्ग' सूत्र में भी सर्वोत्कृष्ट धर्म

१ जैन ऐंटीक्वेरी, भा० ३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) कहा है। इस प्रकार तर्क-विज्ञान और प्रमाण से यह बाधित है कि पहले सब जैन मुनि वस्त्र पहनते थे—उपरान्त जो चाहता वह नग्न हो जाता था! मथुरा के पुरातत्त्व में श्वेताम्बराचार्य कृष्ण (कण्ह समण) भी नग्न (दिगम्बर) दर्शाये गये हैं—केवल वस्त्र का एक टुकड़ा उनकी कलाई पर है![1] श्री कल्याणविजयजी देखें कि उनकी मान्यता इस मूर्ति के होते हुए कैसे सिद्ध होती है? यह मूर्ति उस समय की है, जब दिगम्बर रहने और न रहने पर विवाद हो रहा था और श्वेताम्बरों के पूर्वगामी अर्द्धफालकों का जन्म हो चुका था।

पाठकगण इस विवेचन से स्वयं समझ सकते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर मतों में से कौन सा कल्पस्वरूप समीचीन हो सकता है? मनुष्य दिगम्बर वेष में जन्मता और मरता है। अतः उसका नैसर्गिक वेष दिगम्बर है—वस्त्रपरिधान कृत्रिम है इसलिये त्याज्य है।

दिगम्बर श्वेताम्बर उत्पत्ति! श्री कल्याणविजयजी ने जिनकल्प और स्थविरकल्प का वर्णन कर के आगे दिगम्बरों की उत्पत्ति के विषय में अपनी अनूठी मान्यता का प्रतिपादन किया है। उनका यह लिखना अवश्य ठीक है कि भ० महावीर के निर्वाण के साथ ही जैनसंघ में मतभेद का जन्म नहीं हुआ था। उस मतभेद की उत्पत्ति श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो गई थी, जो विक्रम दूसरी शताब्दि में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में प्रकट हुई। आगे उन्होंने लिखा है कि "महावीर निर्वाण के बाद चौंसठ वर्ष तक उनके शिष्यों में स्थविरकल्पिक और जिनकल्प दोनों तरह के साधु रहे, पर बाद में जिनकल्प का आचरण बंद पड़ गया और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविर कल्प में रहनेवाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे तथापि शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र और एक पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति भद्रबाहु के पट्टधर आर्य स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही।" (पृ० २८९) स्थूलभद्र के शिष्य आर्य महागिरि ने फिर से जिनकल्प (दिगम्बरवेष)

---

१ जैनस्तूप ऐंड अदर ऐंटीक्वटीज़ ऑव मथुरा, प्लेट नं० १७। आजकल यह शिलापट्ट लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। संग्रहालय के अध्यक्ष श्री० डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने उसको देखकर लिखने की कृपा की है कि "पट्ट के ऊपरी भाग में स्तूप के दो ओर चार तीर्थंकर हैं; जिनमें से तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालंकृत) और चौथे सम्भवतः भगवान् महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं। पर तीर्थंकर मूर्तियों पर न कोई चिन्ह है और न वस्त्र। पट्ट में नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण है जिसका नाम कण्ह श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथ में सम्मार्जनी और बाँए हाथ में एक कपड़ा (लंगोट?) लिये हुए है। शेष शरीर नग्न है।" (पत्र नं० ३२ ता० १६।८।४३)

इस पर कोट्टियगण (श्वेताम्बर) के आचार्यों के नामवाला लेख अङ्कित है। यह श्रमण बाहर निकलते हुये अपने गुह्यभाग को छिपाने के लिये कलाई पर वस्त्र लटकाये हुये प्रतीत होते हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

धारण करके उसे पुनर्जीवित किया। उपरान्त उनके एवं सुहस्तिसूरि के शिष्यों में खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। आर्यमहागिरि से दो तीन पीढ़ी तक चलकर वह विरोध नामनिःशेष हो गया और स्थविरकल्प चलता रहा! सभी श्रमणगण आचाराङ्ग सूत्र के अनुसार एक-एक पात्र और मात्र शीतकाल में ओढ़ने के लिये एक, दो या तीन वस्त्र रखते थे। कटिबन्ध का भी प्रचार हो गया था। अन्तः साधुओं के बस्ती में रहने के कारण नग्नता का सर्वथा अन्त हो गया। इसी अवसर पर मथुरा के निकट रहवीरपुर में आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने फिर जिनकल्प की चर्चा खड़ी की और स्वयं जिनकल्प (दिगम्बर) बनकर मतभेद को नवीन रूपमें पल्लवित किया। बोटिक शिवभूति से बोडियलिङ्ग की उत्पत्ति हुई, जिनके परम्पराशिष्य कोंडकुण्ड और वीर हुये। यही दिगम्बरों के पूर्वाचार्य थे।"

श्वेताम्बर जैनों का उपर्युक्त कथन केवल उनकी मान्यता का सूचक है। इसकी पुष्टि किसी दूसरे स्रोत से नहीं होती है। इससे दिगम्बरों का अस्तित्व छठी शताब्दि में हुआ निर्दिष्ट किया गया है—आगे श्री कल्याणविजयजी ने श्री कुन्दकुन्दाचार्य और मूलसंघ को भी पांचवी छठी शताब्दि का बताया है। किन्तु यह मान्यता दिगम्बर मान्यता के प्रतिकूल तो सर्वथा है ही; पर साथ ही ऐतिहासिक साक्षी भी इसको बाधित ठहराती है। वास्तव में यह श्वेताम्बरीय संघ की अन्तरङ्ग दशा का द्योतक है—इससे प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ का सामञ्जस्य बैठाना ग़लत है। दिगम्बर ही बोटिक हैं यह भी सिद्ध नहीं किया गया है; क्योंकि यह किसी स्वाधीन साक्षी से प्रमाणित नहीं है कि दिगम्बर कभी 'बोटिक' कहलाते थे।

दिगम्बर-मान्यता। यहाँ पर हम दिगम्बर मान्यता को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। दिगम्बर मतानुसार भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय तक प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की परिपाटी अक्षुण्ण चलती रही। दिगम्बर और श्वेताम्बर पट्टावलियाँ भी अधिकांशतः भद्रबाहुतक परस्पर सहमत हैं। भद्रबाहुजी के समय में द्वादश वर्षीय दुष्काल उत्तरभारत में पड़ा; जिसके कारण श्री भद्रबाहुजी संघ को लेकर दक्षिण भारत को चले गये—उनके साथ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी जिनमुनि की दीक्षा लेकर वहाँ गये थे। इधर जो मुनिसंघ उनके साथ नहीं गया और उत्तर भारत में ही रह गया, वह दुष्काल की कठिनाइयों में पड़कर चारित्र से च्युत हो गया। श्रावकों के आग्रह से उसने नग्नता को आवरण करने के लिये कपड़े का एक टुकड़ा ले लिया और रक्षा के लिये दण्ड एवं भोजनपात्र भी ग्रहण कर लिये। दक्षिण से लौटकर प्राचीन संघ ने इन लोगों को समझाया, परंतु यह नहीं माने और संघ में नग्न रहते हुये भी बाहर चर्या में लज्जा के निमित्त नग्नता को छिपाने के लिये कलाई पर वस्त्र लटका कर जाने लगे। मथुरा के पुरातत्त्व में इस प्रकार के साधुओं के चित्र श्वेताम्बरीय गण-गच्छ द्वारा प्रतिष्ठित शिलापटों पर अङ्कित हैं—वे यद्यपि नग्न है, परंतु नग्नता को छिपाने के लिये

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कलाई पर वस्त्र का आच्छादन लटकाये हुये हैं।[1] पहले पहल दिगम्बरत्व से एकदम सवस्त्र दशा में आ जाना कठिन था। अतः पहले एक खंडवस्त्र ही धारण किया गया; जिसके कारण यह लोग 'अर्द्धफालक' कहलाये। उपरान्त यह सम्प्रदाय बल पकड़ता गया और अपने आगम भी व्यवस्थित करता गया। परिणामतः दूसरी शताब्दि के प्रारंभ में वह स्पष्टतः पूर्ण वस्त्रों को ग्रहण करके श्वेतपट (श्वेताम्बरों) के रूप में प्रकट हो गया। ईस्वी छठी शताब्दि के लगभग श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगम-साहित्य को सुव्यवस्थित करके श्वेताम्बर दर्शन को भी स्पष्ट बना दिया था। इसके विपरीत दिगम्बर जैनों ने उपलब्ध अंग साहित्य को इस घटना से बहुत पहले—विक्रमीय पहली शताब्दि के लगभग ही लिपिबद्ध कर लिया था। दिगम्बर पट्टावलियों में अंगधर ऋषियों की नामावली ठीक से दी हुई मिलती है; जिससे स्पष्ट है कि अङ्गज्ञान क्रमशः विलुप्त होता आया था। हाथी गुफा के शिलालेख से इस मान्यता की पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें जिनश्रुत के लुप्त होने का उल्लेख है।[2] इस प्रकार दिगम्बर-मान्यता स्वाभाविक रूपमें उचित जंचती है और उसकी पुष्टि स्वाधीन साक्षी से भी होती है।

श्वेताम्बर-मान्यता यह नहीं स्पष्ट करती कि आर्य महागिरि एवं उनके शिष्यों ने किस कारण से जिनकल्प (दिगम्बरत्व) को प्रधानता दी थी, जब कि वे जानते थे कि उनका वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है? वास्तव में उसका कारण यही हो सकता है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ ने दक्षिण भारत से लौटकर उत्तर भारत के संघ की उसके भृष्टाचरण पर भर्त्सना की थी। आर्य महागिरि ने उनकी बात ठीक मानी और प्राचीन निर्ग्रन्थरूप—नग्नत्व धारण कर लिया; परंतु समय के प्रभाव ने उनके मत को पनपने नहीं दिया। उनके शिष्य सचेल श्वेताम्बरीय अर्द्ध फालकों में जा मिले, जो पहले नग्न रहते हुये भी कपड़े धारण कर लेते थे। उनमें से जो नग्न वेष में रहे वह प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनों में सम्भवतः सम्मिलित हो गये होंगे।

ऐतिहासिक प्रकाश। श्री कल्याणविजयजी के उपर्युल्लिखित विवेचन में निम्नलिखित बातें ऐतिहासिक साक्षी से बाधित हैं:—

(१) भ० महावीर के संघ में पहले सब ही साधु स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) होते थे; उपरान्त उनमें से कुछ जिनकल्पी (दिगम्बर) हो जाते थे;

(२) भ० महावीर के निर्वाण जाने के ६४ वर्ष तक कुछ जिनकल्पी साधु हुये; बाद को सब स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) ही हुये;

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म आचार्य शिवभूति द्वारा लगभग ५ वीं ६ ठी शताब्दि के हुआ। लगभग इसी समय मूलसंघ अस्तित्व में आया।

1. *Buhler* Ep. Ind., II. 316 & Festschrift Prof. Kane—(Poona) p. 232.
2. GBORS, XIII, 236 ff.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रथम मान्यता के विषय में हम पहले ही दिगम्बर और श्वेताम्बर मत का दिग्दर्शन कर आये हैं, जिससे स्पष्ट है कि महावीर संघ में साधुओं का वेष नग्न था। श्वेताम्बरीय आगम—सूत्र ग्रंथों में शायद ही कहीं पर जिनकल्प या स्थविरकल्प का वैसा उल्लेख हो जैसा कि श्री कल्याणविजयजी ने दर्शाया है—यह वर्णन भाष्य और चूर्णियों में ही मिलता है। वास्तव में जैन साधु का प्राचीन वेष नग्न ही था। जैनेतर साहित्य और पुरातत्त्व की साक्षी इस बात की ही पोषक है और उससे श्री कल्याणविजयजी की उपर्युक्त प्रथम व द्वितीय मान्यता का खंडन होता है:—

जैनेतर साहित्य में वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। अतः पहले ही वैदिक साहित्य को लीजिये। 'ऋक्संहिता' (१०।१३६—२) में "मुनयो वातवसनाः" का उल्लेख है। हिन्दूपुराण 'भागवत' से स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने जिन ऋषियों को दिगम्बरत्वका उपदेश दिया था, वे 'वातरशनानां' श्रमण कहे गये हैं। प्रो० अल्ब्रेट वेबर ने भी उक्त उल्लेख को दिगम्बर जैन मुनियों के लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया है[1]। 'अथर्ववेद' (अ० १५) में 'व्रात्य' लोगों का उल्लेख है, जिन्हें प्रो० चक्रवर्ती दि० जैन श्रमण प्रमाणित करते हैं।[2] उसमें ज्येष्ठव्रात्य को 'समनिचमेद्र' लिखा है, जिसका भाव 'अपेत-प्रजननाः' होता है और यह उनके दिगम्बरत्व का द्योतक है। इन उल्लेखों से वैदिक काल में दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जब कि श्वेताम्बर मतानुसार सब ही तीर्थङ्कर और मुनि वस्त्र पहननेवाले साधु होते थे। अतः उनकी यह मान्यता बाधित है।

उपरान्तकालीन उपनिषद् भी यथाजात दिगम्बरत्व का विधान अपने साधुओं के लिये करते हैं और उन्हें तूरियातीत और अवधूत परमहंस कहकर पुकारते हैं।[3] इनमें साधु निग्रन्थ, निष्परिग्रही, यथाजातरूपधारी और शुक्लध्यानपरायण लिखा है। ("यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः ..... शुक्लध्यानपरायणः"—जाबालोपनिषद् सूत्र ६) शुक्लध्यान जैनदर्शन की मुख्य वस्तु है। वस्तुतः दिगम्बर जैन मुनियों का प्रभाव उपनिषद्कालीन ऋषियों पर पड़ा प्रतीत होता है। यही कारण है कि उन्होंने वैसी साधुचर्या का विधान किया है जैसी कि दिगम्बर शास्त्रों में है। इससे उपनिषद्काल में दि० जैन मुनियों का अस्तित्व प्रमाणित होता है, जो निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

'रामायण' में (बालकांड १४।२२) उन श्रमणों का उल्लेख है जो भूषण टीका में दिगम्बर

---

१ Indian Antiquary, XXX, p 280

२ हमारे ग्रंथ "भगवान् पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना देखो।

३ "दिगम्बरत्व और दि० मुनि" पृष्ठ २१-३६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मुनि बताये गये हैं। 'महाभारत' (आदि पर्व ३२६-२७) में जैन मुनिगण नग्नक्षपणक कहे गए हैं।

पुराणों में 'विष्णुपुराण' और 'पद्मपुराण' चौथी से पांचवीं-छठीं शताब्दि के रचे हुये कहे जाते हैं। इनमें भी जैन मुनि दिगम्बर ही लिखे गये हैं—उनमें वस्त्रधारी जैन मुनियों का उल्लेख नहीं है।[१] अब यदि श्रीकल्याणविजयजी के मतानुसार पांचवी छठी शताब्दि के पहले दिगम्बर जैन मुनि थे ही नहीं—सब वस्त्रधारी स्थविरकल्पी (श्वे०) थे, तो उस समय के साहित्य में उनका उल्लेख कहाँ से आ गया ?

संस्कृत classical साहित्य में भी जो ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों का रचा हुआ है, उसमें भी दि० जैन मुनियों का अस्तित्व मिलता है। भृर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में जैन मुनि को पाणिपात्र और दिगम्बर लिखा है।[२] इसी तरह 'वराहमिहिरसंहिता' में दि० जैनों को 'नग्नान्' और 'अर्हतदेव' को 'दिग्वास' लिखा है।[३] 'पञ्चतंत्र' में दिगम्बर जैन मुनियों को आहारवेला पर घूमते हुये श्रावक के घर पर शुद्ध भोजन मिलने पर विधिपूर्वक आहार लेते लिखा है।[४] 'गोलाध्याय' ज्योतिषग्रंथ के रचयिता भी दि० जैनों का उल्लेख करते हैं[५] और 'मुद्राराक्षस' नाटक में भी जैन मुनि का उल्लेख 'नग्नक्षपणक' के रूप में हुआ है।[६] यह उल्लेख भी श्वेताम्बर-मान्यता की निस्सारता प्रकट करते हैं।

पिटक बौद्ध साहित्य। ई० पूर्व सन् ८० में लिपिबद्ध किया गया था। उसमें भी यही उल्लेख मिलते हैं कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर और उनके साधु शिष्य नग्न रहा करते थे। 'दीघनिकाय' में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर को निर्ग्रन्थ संघ का नेता और अनुभवी धर्मप्रवर्तक

---

१ 'ततो दिगंवरो मुंडो·····विष्णुपुराण तृतीयांश अ० १७ व १८
'दिगम्बरेण·····जैनधर्मोपदेश:····· दिगंबरजैनधर्मदीक्षादानम्।'
पद्मपुराण प्रथम सृष्टिखंड १३

२ वेद पुराणादि ग्रंथों में जैनधर्म का अस्तित्व, पृ० ४६

३ 'नग्नान् जिनानां विदुः' ॥१६॥६१॥
'दिग्वासस्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः' ॥४५॥५८॥—वराहमिहिरसंहिता।

४ पञ्चतंत्र (तंत्र ४)—'नग्नीकृता मुण्डिता' व. तंत्र ५

५ गोलाध्याय ३।८-१० "The naked sectarians & the rest affirm that two suns, two moons·····etc. ··· The commentator Lakshamidas agree that the Jainas are here meant·····and remarks that they are described as 'naked sectarians' etc., because the class of Digambaras is a principal one among these people."—Asiatic Researches—Vol. IX p. 317

६ Hindu Dramatic Works, p. 10

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लिखा है।[१] 'मज्झिमनिकाय' में म० महावीर के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का उल्लेख है।[२] 'जातक' कथा में म० महावीर निर्ग्रन्थ को अचेलक (नग्न) लिखा है।[३] वैशाली के निकट कन्डरमसुक नामक महानुभाव जैन मुनि हुये थे। उन्होंने ब्रह्मचर्यादि व्रतों के साथ याज्जीवन नग्न (अचेलक) रहने का भी नियम किया था।[४] बौद्ध टीकाकार बुद्धघोष 'अचेलक' से भाव 'नग्न' के लेते हैं। (अचेलकोऽतिनिच्चेलो नग्गो) जैन साधु पाटिकपुत्र अचेल लिखे गये हैं। उस समय सब ही निर्ग्रन्थ साधु नग्न रहते थे। त्रिपिटक में निर्ग्रन्थ और अचेलक शब्द समानरूप में जैन मुनियों के लिये प्रयुक्त हुये हैं।[५] इन दिगम्बर मुनियों का प्रभाव जैनेतर साधुओं पर पड़ा था और वे नग्न रहने लगे थे।[६] 'महावग्ग' के उल्लेख से स्पष्ट है कि म० महावीर से पहले के तित्थिय (तीर्थक) साधु भी नग्न रहते थे। यह तीर्थक मुख्यतः जैन थे अर्थात् म० पार्श्वनाथ के तीर्थ के साधु थे। 'दीघनिकाय' के 'पासादिक सुत्तन्त' से स्पष्ट है कि म० महावीर के गृहवासी श्रावक शिष्य श्वेतवस्त्र पहना करते थे[७]— निर्ग्रन्थ मुनि वैसे वस्त्र नहीं पहनते थे। "जातक-घटकथा",[८] 'चुल्लवग्ग" (८।२८।३), "महावग्ग" (८।१५।३८) "संयुत्तनिकाय" (२।३।१०।७) इत्यादि ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों की नग्नता के द्योतक उल्लेख हैं। उनमें ऐसा एक भी उल्लेख नहीं है जिससे स्पष्ट हो कि म० महावीर तो स्वयं नग्न रहते थे, परन्तु उनके सब ही शिष्य वस्त्रधारी स्थविर होते थे।

उपरान्तकालीन बौद्धरचनाओं में भी जैसे 'विशाखावत्थुधम्मपदट्ठकथा (P.T.S.,I, 2,384) 'दिव्यावदान' (पृ० १६५) आदि ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों को नग्न साधु लिखा है। 'दाठावंसो' नामक ग्रन्थ में 'अहिरिका' शब्द के साथ 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग जैन साधु के लिये

---

१ दीघनिकाय (P.T.S.) भा० १ पृ० ४८-४९

२ मज्झिमनिकाय (P.T.S.) भा० १ पृ० ९२-९३

३ जातक २।१८२

४ दीघनिकाय (P.T.S.) भा० ३ पृ० ९-१०

५ 'वीर' वर्ष ४ पृ० ३५३

६ Form Buddhist accounts in their canonical works as well as in other books; it may be seen that...in their description of other rivals ef Buddha that these, in oder to gain esteem, copied the *Nirgranthas* and went unclothed, or they were looked upon by the people as *Nirgrantha* holy ones, because they happend to lose their clothes."—Buhler. *An Indian sect of the Jainas, p. 36.*

बुल्हर के अतिरिक्त जेम्स अल्वि (IA. VIII) और जैकोबी ने भी (IA., IX. 162) जैनों का प्रभाव अन्य मत प्रवर्तकों पर पड़ा बताया जो नग्न साधु हो रहे थे।

७ 'निगन्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसनां' (PTS. III, 117-118.)

८ जातकमाला (S.B.B., Vol. I) पृ० १४५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हुआ है।[१] इसी ग्रन्थ में ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दि के लगभग कलिङ्ग में गुहशिव नामक राजा निगंठों का भक्त लिखा है। निर्ग्रन्थ यहां भी दिगम्बर लिखे हैं। बौद्ध नैयायिक कमलशील ने जैनों का अहीक नाम से उल्लेख किया है। 'अह्रीकादयश्चोदयन्ति'—स्याद्वादपरीक्षाप्रकरण, तत्वसंग्रह पृ० ४८६) इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व पांचवी-छठी शताब्दि से पहले से चला आता था। उस समय उनका नया प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

फाह्यान्[२] और हुएनस्तांग[३] नामक चीनी यात्रियों को सारे भारत में दिगम्बर जैनी फैले हुये मिले थे। हुएनसांग ने निर्ग्रन्थ साधु को नग्न ही लिखा है।[३] इनके बहुत पहले सिकन्दर महान् के समय में यूनानी लेखकों ने जैन श्रमणों को दिगम्बर ही लिखा था।[४] ई० पूर्व सन् २५ में पाड्यराज ने यूनान के शाह ऑगस्टस के लिये भेंट भेजी थी। उसके साथ एक श्रमणाचार्य (जैन गुरु) भी गये थे, जिन्होंने दिगम्बर वेष में सल्लेखनाव्रत द्वारा अपने जीवन का अन्त अथेन्स नगर में किया था।[५] ईस्वी प्रथम शताब्दि में अपोल और दमस नामक यूनानी तत्त्ववेत्ता भारत आये थे और उन्होंने दि० जैन मुनियों से शास्त्रार्थ किया था।[६]

तामिल साहित्य । में 'मणिमेखलै' और 'सिलप्पदिकारम्' नामक दो महाकाव्य प्राचीन संगमकाल की रचनायें हैं। इनमें से पहला काव्य एक बौद्ध लेखक की कृति है। इसमें दिगम्बर जैनों का उल्लेख है।[७] एक स्थल पर उसमें लिखा है कि 'मानाइकन नामक

१ 'इमे अहिरिका सब्बे सद्धादिगुणवज्जिता। यद्दा सठा च दुप्पञ्ञा सग्ग मोक्ख विबन्धका ॥८८॥ इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पब्बाजेसि सकारट्ठा निगण्ठे ते असेसके ॥८९॥

—दाठावंसो पृ० १४

२ फाह्यान्, पृ० ३१-४५ (The Niganthas were ascetics who went naked.—Fa-Hian, Beal, pp. 110-113)

३ "The Lihi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked & pulling out their hair."—St. Julien. Vienna, p. 224.

४ "Alexander heard that these *Sramans* went about naked……"—Mc Crindle, Ancient India, p, 70.

"Those Indians, who are called *Semnoi* (श्रमण) go naked all their lives."—Clemens Alex :

५ Indian Historical Quarterly, Vol II, p. 293.

६ "……disputed with Indian gymnosophists."

QJMS. XVIII, 305-306.

Term 'Indian Gymnosophists applies very aptly to the Niganthas (Digambara Jains)."

—Encyclo :Britannica, XV. 128.

७ Studies in South Indian Jainism, pt. I. pp. 47-48.
"These Jains were the Digambaras is clearly seen from their description.
—S. K. Aiyangar.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

व्यक्ति निर्ग्रन्थ संघ में जाकर दिगम्बर मुनि हो गया।' यही बात दूसरे महाकाव्य से स्पष्ट है, जो एक दिगम्बर जैन की ही रचना है। इनसे दिगम्बर जैनों का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध होता है।

भारतीय पुरातत्त्व में साधुता के लिये दिगम्बरत्व का महत्त्व प्राचीन काल से स्पष्ट है; क्योंकि सिंधु उपत्यका से उपलब्ध पुरातत्त्व में अनेक नग्न मूर्तियां मिली हैं। यह मूर्त्तियाँ दि० जैनिमूर्त्तियों के अनुरूप हैं।[1] वहां की एक मुद्रा पर जिनेन्द्र शब्द भी पढ़ा गया है।[2] अतः आज से चार-पांच हजार वर्षों पहले दिगम्बर मुद्रा का प्रचार प्रमाणित होता है।

सम्राट् अशोकने अपने सातवें स्तंभलेख में निर्ग्रन्थ साधुओं का उल्लेख किया है। निर्ग्रन्थ से भाव दिगम्बर जैन साधु होता है।[3] हाथीगुफा के एवं वहां के अन्य शिलालेखों में दिगम्बर मुनिजनों का उल्लेख तापस और श्रमण नाम से हुआ है।[4] वहाँ की सब ही प्रतिमायें दिगम्बर हैं। मथुरा के कंकालीटीला से प्राप्त पुरातत्त्व से भी दि० जैनों का तत्कालीन अस्तित्व प्रमाणित है। वहाँ के एक स्तूप के चित्रपट में एक जैन मुनि पीछी व कमंडल लिये हुए नग्न दिखाये गये हैं।[5] होलीदरवाजा से मिले आयागपट पर जो लेख है उसमें स्पष्ट निर्ग्रन्थ आर्हतों का उल्लेख है।[6] ऐसे ही और उल्लेख भी वहाँ हैं। अहिच्छत्र (बरेली) के एक स्तंम्भलेख से (१ या २ श०) महाचार्य इन्द्रनन्दि का अस्तित्व प्रमाणित है,[7] जो प्राचीन नन्दिसंघ (दिग०) से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। गुप्तकालीन कुहाऊं के स्तंभलेख से भी दिगम्बर जैनों का अस्तित्व सिद्ध है—इस स्तंभ पर दिगम्बर जैन प्रतिमायें अङ्कित हैं।[8] पहाड़पुर (राजशाही) के ताम्रलेख में उल्लेख है कि सन् ४७९ ई० में आचार्य गुहनन्दि द्वार शासित निर्ग्रन्थ संघ वहाँ मौजूद था, जिसका सम्बन्ध दिगम्बर जैनोचार्य श्री जिनसेन द्वारा उल्लिखित 'पंचस्तूपान्वय' से संभवित है।[9] उदयगिरि (भेलसा) के ५वीं शती के लेखों से दिगम्बर जैन संघ का अस्तित्व प्रमाणित है।[10] शक सं० ५२२ के श्रवणबेलगोलस्थ

१ रामप्रसाद चंदा, Survival of the Prehistoric Civilisation of Indus valley, pp. 25—33.

२ प्रो० प्राणनाथ, Indian Historical Quarterly, vol. VIII suppl : pp.18—32.

३ श्वेताम्बराचार्य श्री आत्मारामजी ने "तत्त्वनिर्णयप्रासाद" में निर्ग्रन्थ की व्याख्या में लिखा है : "यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः।"

४ 'सवदिसानं तापसानं.....—,पंक्ति १५ बंगाल विहार और उड़ीसा के प्रांचीन जैन स्मारक, पृ० ६१—६७

५ जैन-सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष १ किरण ४ पृ० १२३

६ वीर, वर्ष ४ पृ० ३०३

७ संयुक्त प्रांतीय जैन स्मारक, पृ० ८१—८२

८ पूर्व० पृ० ३४

९ मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १९३१, पृ० १५० १० बम्बई प्रां० जैन स्मारक ७०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शिलालेख से श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का परिचय प्राप्त होता है।[१] इस प्रकार शिलालेखीय साक्षी से भी दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व, जो निर्ग्रन्थ कहलाते थे, प्राचीन काल से सिद्ध है। अतः श्री कल्याणविजयजी की पहली दोनों मान्यतायें कि पहले सब निर्ग्रन्थ साधु स्थविरकल्पी वस्त्रधारी होते थे मिथ्या सिद्ध होतीं हैं।

श्री कल्याणविजयजी की तीसरी मान्यता है कि ५ वीं ६ठी शताब्दि के लगभग आचार्य शिवभूति द्वारा दिगम्बर जैनों और उनके मूलसंघ का जन्म हुआ। उनका यह लिखना भी ग़लत है, क्योंकि शिवभूति से पहले के दिगम्बर जैनाचार्यों का अस्तित्व प्रमाणित है। आचार्यप्रवर श्री धरसेनजी और उनके शिष्य भगवान् पुष्पदन्त और भूतबलि ईस्वी पहली या दूसरी शताब्दि के लगभग विद्यमान थे और उनके रचे हुये 'षट्खण्डागमसूत्र' और 'कषाय-प्राभृत' आदि उपलब्ध हैं।[२] श्री यतिवृषभाचार्यजी शिवभूति से पहले के आचार्य प्रमाणित हैं; उनका 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ उपलब्ध है।[३] उस पर श्री कल्याणविजयजी ने अपने शिवभूति का एकत्व 'भगवती आराधना' के कर्त्ता शिवार्यजी से सिद्ध नहीं किया है, यद्यपि उनका लिखना यही बताता है कि वे दोनों को एक समझते हैं। किन्तु उनके शिवभूति जब आर्य कृष्ण के शिष्य हैं तब 'भगवती' के शिवार्यजी के गुरूओं के नाम आर्य जिननन्दिगणि आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दि हैं। (अज्जजिणणंदिगणि सव्वगुत्तगणि अज्ज-मित्तणंदीणं। अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१॥) इसलिये ये दोनों शिवभूति या शिवार्य एक नहीं हो सकते। आचार्य धरसेन के दादागुरु अर्हद्बलि ने ही मूल निर्ग्रन्थ संघ को चार भिन्न संघों में विभाजित किया था।[४] यह समय वीर निर्वाण के पश्चात् ६१४ और ६८३ वर्ष के भीतर पड़ता है।[५] श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०५ में भी श्री अर्हद्बलि को संघ भेद का कर्त्ता कहा है।[६] अतः यह कहना कि मूलसंघ का जन्म ५ वीं-६ठी शताब्दि में हुआ निराधार है।

क्रमशः

---

१ जैन शिलालेखसंग्रह (मा० ग्रं०) पृ० १—२

२ षट्खंडागमसूत्र भा० १ की भूमिका देखो।

३ तिलोयपण्णत्ति (शोलापुर)। शक सं० ३९५ के पश्चात् वह ग्रंथ रचा गया था।

४ षट् खंडागमसूत्र भा० १ भूमिका पृष्ठ १५

५ पूर्व० भूमिका पृष्ठ २९

६ अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है ?

[ले० श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए.; एल-एल. बी.]

जैनधर्म में मुनियों के लिये परीषह सहन करने का नियम बड़ा मौलिक, महत्त्व-पूर्ण एवं व्यापक है। प्राचीनतम काल से लगाकर वर्तमान समय तक दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि सभी जैन सम्प्रदायों में परीषहों का विधान पाया जाता है, एवं परीषहों की संख्या, उनके क्रम और उनके स्वरूप में भी कहीं कोई बड़ा भेद नहीं पाया जाता। अतएव यह स्वाभाविक है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे जैनधर्म का सम्पूर्ण परिचय करानेवाले ग्रन्थ में परीषहों का विवेचन पाया जाय। इस विषय को सूत्रकार उमास्वाति ने कितना महत्त्वपूर्ण समझा है, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि नौवें अध्याय में जहां उन्होंने समिति, गुप्ति, दश धर्म व बारह अनुप्रेक्षाओं को केवल एक एक ही सूत्र में निपटाया है, वहां परीषहों का विवेचन उन्होंने ८ से लेकर १७ तक दश सूत्रों में किया है। पहले उन्होंने सूत्र ८ में परीषहों के दो प्रयोजन बतलाये हैं कि जिनोपदिष्ट मार्ग से च्युत न हो इसके लिये, तथा कर्मों की निर्जरा के लिये, परिषहों का सहन करना आवश्यक है। फिर सूत्र ९ में क्षुधा, पिपासा आदि २२ परीषहों का नामनिर्देश किया गया है। इसके पश्चात् सूत्र १०, ११ और १२ इन तीन सूत्रों में यह बतलाया गया है कि किन किन गुणस्थानों में उन बाइस में से कितने परीषह होना संभव है। यहां स्पष्ट विधान किया गया है कि सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थ वीतराग के चौदह परीषह होते हैं, जिन भगवान् के ग्यारह होते हैं और बादरसाम्पराय तक सभी होते हैं। ऐसा भेद क्यों पड़ता है इसका कारण आगे के १३ से १६ तक चार सूत्रों में बतलाया गया है कि वे भिन्न भिन्न परीषह भिन्न भिन्न कर्मों से सम्बद्ध हैं। अतएव जहां तक उन कर्मों का उदय पाया जाता है तहां तक ही उनसे फलित होने वाली वेदनाओं के होने से उनके सहन करने रूप परीषह होते हैं। बादरसाम्पराय तक वे सभी कर्मोदय विद्यमान हैं, अतएव वहां तक सभी परीषह सहने योग्य होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय होने पर सूक्ष्म लोभ को छोड़ शेष समस्त मोह कर्म के उदय का अभाव हो जाता है; अतएव दर्शनमोह जनित अदर्शन एवं चारित्रमोह जनित नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार, इन आठ परीषहों का भी अभाव हो जाता है, जिससे सूक्ष्मसाम्पराय व छद्मस्थ वीतराग के केवल शेष १४ परीषह ही होते हैं। किन्तु जब सयोगी गुणस्थान में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मों के उदय का भी अभाव हो जाता है, तब उनसे सम्बद्ध प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ, इन तीन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परीषहों का भी अभाव होकर केवल शेष ग्यारह परीषह रह जाते हैं जो कि वेदनीय कर्म के अनुषंगी हैं। और चूंकि वेदनीय कर्म का उदय अयोगि गुणस्थान के अन्तिम समय तक, अर्थात् जब तक शरीर और आयु है तब तक, बना रहता है, इसलिये ये ग्यारह परीषह अन्त तक सहनीय होते हैं। ये ग्यारह परीषह हैं—क्षुधा[१], पिपासा[२], शीत[३], उष्ण[४], दंशमशक[५], चर्या[६], शय्या[७], वध, रोग[८], तृणस्पर्श[९] और मल[१०]।

अब सूत्रकार की उक्त व्यवस्था पर उनके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी व अकलंकदेव का क्या मन्तव्य है, यह देखना चाहिये। बादरसाम्पराय तक सभी परीषहों के मानने में तो कहीं कोई विशेषता नहीं है। सूक्ष्म साम्पराय में भी टीकाकारों ने १४ परीषहों को स्वीकार किया है। पर शेष के निराकरण करने में उन्होंने जो सूक्ष्मसाम्पराय को सूक्ष्म लोभ के होते हुए भी छद्मस्थ वीतराग के समान मान लेने की कल्पना की है, वह आवश्यक नहीं है। जिन आठ परीषहों का सूक्ष्मसाम्पराय में अभाव कहा गया है वे दर्शनमोह और चारित्रमोह की उन प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं जिनके उदय का सूक्ष्मसाम्पराय से पूर्व ही अभाव हो चुका है। उनमें ऐसा कोई परीषह नहीं है जो सूक्ष्मलोभ से सम्बन्ध रखता हो। अतएव सूक्ष्म साम्पराय में उनका अभाव मानना ठीक है, और इसके लिये सूक्ष्म-साम्पराय को वीतराग के समान मानने की स्थूल कल्पना आवश्यक नहीं है।

किन्तु छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषहों के सद्भाव मानने में टीकाकारों को आपत्ति उत्पन्न हुई है। उनका कहना है कि मोह के उदय की सहायता न होने से वीतराग के वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाता है। अतएव उनके क्षुधादि वेदना का अभाव है और इसलिये उनके उस वेदना के सहन करने रूप परीषह का मानना ठीक नहीं है। फिर भी सूत्रकार ने जो उनके चौदह परीषहों का सद्भाव कहा है वह शक्तिमात्र की विवक्षा से है, जिस प्रकार कि सर्वार्थसिद्धि-विमानवासी देव के सातवीं पृथिवी तक गमन करने की शक्ति मानी जाती है। आगे केवली जिनके जो ग्यारह परीषहों का विधान सूत्रकार ने किया है उसके सम्बन्ध में टीकाकारों को विशेष आपत्ति उत्पन्न हुई है, और नाना प्रकार से उस सूत्र का अर्थ बैठाने का प्रयत्न किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकार की एक कल्पना यह है कि सूत्र में **'न सन्ति'** इतना वाक्यांश और जोड़कर ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते'। राजवार्तिककार ने **"कैश्चित्कल्प्यन्ते"** इतना वाक्यांश सूत्र में और समझ लेने की सलाह दी है जिससे सूत्र का अर्थ होगा 'कुछ आचार्य जिन भगवान् में ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं'। इन कल्पनाओं के समर्थन में दोनों टीकाकारों का कहना है कि मोहनीय या घातिकर्मों की सहायता के अभाव से क्षुधादि वेदनाओं का भी अभाव हो जाता है। इसका राजवार्तिककार ने यह उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार मंत्र और औषधि के बल से जब विषद्रव्य की मारण-शक्ति का क्षय कर दिया जाता है, तब वह विषद्रव्य मरण कराने में समर्थ नहीं होता;

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर वेदनीय कर्म अपना फल दिखाने में असमर्थ हो जाता है, जिससे क्षुधादि वेदनायें नहीं होतीं। इसलिये केवली जिन में कोई परीषह नहीं होते। तथापि जिस प्रकार ज्ञानावरण का क्षय व पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने पर एकाग्रचिन्तानिरोध का भी अभाव हो जाता है, फिर भी उपचार से केवली में ध्यान की सत्ता मानते हैं, उसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप भावपरीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्म के उदयरूप द्रव्य परीषह का सद्भाव मानकर जिन भगवान् में उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं।

टीकाकारों की इन सब युक्तियों पर से निम्न शंकायें उपस्थित होती हैं।

(१) क्या **'एकादश जिने'** वाले सूत्र में **'न सन्ति'** या **'कैश्चित्कल्प्यन्ते'** इतना वाक्यशेष जोड़ना युक्तिसंगत है ?

(२) क्या वेदनीय कर्म के उदय में या उसकी तीव्रता में मोहनीय कर्म की सहायता अपेक्षित है ? क्या वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाने पर क्षुधादि वेदनाओं का अभाव हो जाता है ?

(३) क्या घातिया कर्मों के क्षय हो जाने से वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है ?

(४) शक्तिमात्र की विवक्षा का क्या तात्पर्य है, और सर्वार्थसिद्धि के देव का उदाहरण प्रकृत विषय पर किस प्रकार घटित होता है ?

(५) मंत्रौषधि द्वारा विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का उदाहरण प्रकृत में कहां तक घटित होता है ?

(६) केवली में एकाग्रचिन्तानिरोध का अभाव और तिस पर भी ध्यान की कल्पना किस प्रकार होती है और उसकी उपमा प्रकृत विषय पर कहां तक ठीक बैठती है ?

अब मैं इन शंकाओं पर अपनी समझ के अनुसार कुछ विचार प्रकट करता हूँ—

(१) सूत्रों में किसी वाक्यशेष की कल्पना तभी की जा सकती है जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और विना कुछ जोड़े उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्था में दो प्रकार से वाक्यशेष की कल्पना की जा सकती है। एक तो ऐसे शब्दों की जो ऊपर के सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट हो चुके हैं और जिनकी अनुवृत्ति चालू है, और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दों की जो सूत्रकार की विशेष शैली के अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत **'एकादश जिने'** सूत्र में इन नियमों के अनुसार यदि कुछ शब्दों का अध्याहार किया जा सकता है तो एकादश के साथ **'परीषहाः'** का और वाक्य-पूर्ति के लिये अन्त में **'सन्ति'** का, जिससे परिपूर्ण सूत्रवाक्य होगा **'एकादश परीषहाः जिने सन्ति'**। किन्तु यहां **'न सन्ति'** या **'कैश्चित् कल्प्यन्ते'** जोड़ने के लिये कोई आधार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशों को जोड़ने से कई आशंकाएं उठ खड़ी होती हैं जिनका कोई समाधान नहीं पाया जाता; जैसे, यदि यही सूत्रार्थ माना जावे कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते', तो उससे स्वभावतः यह अनुमान होगा कि शेष ग्यारह होते हैं, वे कौन से हैं? यदि यह वाक्यार्थ लिया जाय कि 'कुछ आचार्य ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं' तो इससे अनुमान होगा कि सूत्रकार के सम्मुख प्रस्तुत विषय पर दो मतभेद उपस्थित थे, जिनमें से एक ही का उन्होंने यहां स्पष्ट उल्लेख किया और दूसरे का कोई स्पष्ट उल्लेख ही नहीं किया। इसपर से स्वभावतः अनुमान यही होगा कि सूत्रकार का मत उसी पक्ष में था जिसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, इत्यादि। पर न तो प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार है और न शेष ग्रंथ में कहीं भी सूत्रकार ने ऐसी कथनशैली ग्रहण की है। अतः इन वाक्यशेषों की कल्पना निराधार प्रतीत होती है।

(२) यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मों के स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदय के आधीन है। जब मोहनीय कर्म का उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसी के अनुसार वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है; और जब सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान के अन्त में मोह के उदय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीय का स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहां तक तो वेदनीय कर्म मोहनीय के अधीन है। किन्तु बंधे हुए कर्म की सत्ता और उसके उदय में वेदनीय कर्म मोहनीय से सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीय का उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्तामात्र के क्षय हो जाने पर भी वेदनीय के बंधे हुए कर्मों की सत्ता जीव में बनी ही रहती है और वह बराबर उदय में आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसके अनुभागोदय पर अवलम्बित रहती है। जब मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब उसके योग से वेदनीयोदय के साथ रागद्वेष परिणति का मिश्रण दिखाई देगा। मोहोदय के अभाव में रागद्वेष परिणति का भी अभाव हो जायगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूर की बात है। हां, वेदनीय कर्म का उदय जितनी मात्रा में मन्द होगा उतनी ही मात्रा में क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जावेंगी। किन्तु वेदना का सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्म के उदय का सर्वथा अभाव हो जाय। इस प्रकार कर्मोदय, वेदना और परीषह की तीव्रता व मन्दता का तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषाङ्गिक रूप से होता है।

(३) जब वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति मोहनीय कर्म के अधीन नहीं है, तब अन्य घातिया कर्मों के अधीन तो हो ही कैसे सकती है। दर्शनावरण कर्म के अभाव से केवली की दृष्टि निर्मल होगी, ज्ञानावरण के अभाव से उनकी समझदारी परिपूर्ण होगी, एवं

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मोहनीय कर्म के अभाव से ऊपर कहे अनुसार राग-द्वेष प्रवृत्ति नहीं रहेगी। पर इनसे वेदनीय-कर्म-जन्य वेदना में तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तराय कर्म के अभाव से न केवल वेदनीय के उदय में कोई बाधा नहीं आयगी, बल्कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन शक्तियों के पूर्ण विकास में जो रूकावट हो रही थी वह दूर हो जायगी और उनकी पूर्ति का मार्ग खुल जायगा। नहीं तो इन शक्तियों की सार्थकता ही कहां सिद्ध होगी ? अतएव यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि घातियां कर्मों के अभाव में वेदनीय की फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्पराय के अन्त समय में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहुर्त मात्र होता है, उसी समय वेदनीय का स्थितिबन्ध उपशमक के चौवीस मूहूर्त और क्षपक के बारह मुहूर्त होता है। एवं क्षपक के वेदनीय का स्थिति-सत्त्व थोड़ा नहीं असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है जो क्षीणकषाय और सयोगी एवं अयोगी गुणस्थानों में बराबर अपनी स्थिति अनुसार अनुभाग का उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुए कर्म प्रदेशों की निर्जरा करते हैं, पर वे भी उक्त कर्म-स्थिति को बहुत नहीं घटा पाते। वह फिर भी प्रायः आयु की स्थिति से अधिक ही शेष रह जाती है। अतएव उसकी स्थिति को आयु प्रमाण करने के लिये उन्हें एक विशेष महत्त्वपूर्ण क्रिया करनी पड़ती है जिसे समुद्धात कहते हैं। यह समुद्धात क्रिया वे आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर करते है। उस अन्तर्मुहूर्त में भी अयोगी के अन्तिम समय तक वेदनीय का उदय बराबर बना रहता है और उसका उदयाभाव और क्षय आयु के अन्त होने के साथ ही हो पाता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे माना जाय कि घातिकर्मों के क्षय होने से ही वेदनीय कर्म की उदयशक्ति क्षीण हो जाती है ?

(४) शक्ति का सद्भाव होते हुए भी उसके उपयोग का अभाव वहीं पर माना जा सकता है जहां उसका कोई प्रतिबन्धक कारण मौजूद हो। सर्वार्थसिद्धि के देव में यदि सातवीं पृथिवी तक जाने की शक्ति है और फिर भी वह देव वहां जाता नहीं है तो इसमें प्रतिबन्धक कारण यह मानना पड़ेगा कि उसके वहां तक गमनागमन कराने वाले वेदनीय कर्म के उदय का अभाव है। और यही अभाव उस शक्ति के उपयोग का प्रतिबन्धक है। पर वीतराग में ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। बल्कि उसके विपरीत वेदनीयजन्य चर्यादि क्रियायें स्पष्टतः मानी ही जाती हैं। तब फिर उनकी वेदना होने में कौन सी शक्तिका प्रतिबन्ध लगता है यह जान नहीं पड़ता।

(४) जिन मंत्रों और औषधियों में विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का शक्ति होगी उनके प्रयोग से विषद्रव्य का प्रभाव अवश्य घट जायगा या नष्ट हो जायगा। किन्तु क्या घातिया कर्मों के नाश और वेदनीयादि अघातिया कर्मो के उदयाभाव में भी उसी प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध है ? विचार करने से ज्ञात होगा कि वैसा नहीं है। हम ऊपर

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

देख ही चुके कि उक्त कर्मों में एक दूसरे की फलदायिनी शक्ति को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं है। ऐसी अवस्था में उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय पर घटित नहीं होता।

(५) केवली के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान भले ही न होता हो, पर जो ध्यान उनके माना जाता है वह यथार्थतः चिन्तानिरोध रूप नहीं किन्तु क्रमशः योगों के निरोध रूप होता है। बादर और सूक्ष्म काय, वचन और मन का किस प्रकार एक के द्वारा दूसरे का निरोध किया जाता है, यही केवली की ध्यान क्रिया है जो उपचार से नहीं मानी गई, किन्तु यथार्थता से होती है। इस प्रकार दृष्टान्त में भी उपचार घटित नहीं होता। और दार्ष्टान्त में तो बिलकुल ही नहीं होता। वेदनीय कर्म का उदय होते हुए द्रव्य-परीषह का सद्भाव और वेदनारूप भावपरीषह का अभाव कैसे घटित होगा सो कुछ समझ में नहीं आता। वेदनीय कर्म का उदय जीव में वेदना उत्पन्न किये विना होगा ही किस प्रकार ? वह कर्म तो जीवविपाकी है जो अपनी फलदायिनी शक्ति को जीव में वेदना रूप से ही प्रकट करेगा। और उसी वेदना के सहन करने से परीषह होगा। इसके अनुसार जो शारीरिक क्रिया होगी उसे द्रव्यपरीषह कहा जा सकता है। अतएव वेदना रूप भावपरीषह के विना द्रव्यपरीषह हो ही कैसे सकता है, और उसमें उपचार मानने की गुंजाइश ही क्या है ?

इस प्रकार जहां तक हम विचार करते हैं टीकाकारों का विवेचन न तो सूत्रकार के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ होता और न कर्मसिद्धान्त के नियमों के अनुसार बैठता। यदि हम टीकाकारों के मत को स्वीकार करते हैं तो हमें उपलब्ध कर्मसिद्धान्त को अप्रामाणिक कहना पड़ेगा, और यदि हम कर्मसिद्धान्त की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो टीकाकारों का विवेचन उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। किन्तु सूत्रकार के जो वचन हैं, उन्हें यदि हम प्रारम्भ में प्रकट किये अनुसार अर्थ में लेवें तो उनका कर्मसिद्धान्त से ठीक सामञ्जस्य बैठता है।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त यदि हम दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम तार्किक समन्तभद्रस्वामी का उक्त विषय पर मत जानना चाहते हैं तो हमें उनकी आप्तमीमांसा देखनी चाहिये। यहां उन्होंने आप्त में दोष और आवरण की हानि आवश्यक बतलाई है। उनके विद्वान् टीकाकार विद्यानन्दि स्वामी के अनुसार दोष का अभिप्राय ज्ञानावरणादि भावकर्मों से है और आवरण का अभिप्राय उन्हीं के द्रव्यकर्मों से (देखो आप्तमीमांसा १,४-६) पर वेदनीय जैसे अघातिया कर्मों के भाव व द्रव्य उदय से यहां तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि आगे नौव परिच्छेद में वीतराग के भी दुःख की वेदना स्वीकार की गई है। ऐसी अवस्था में मर्मज्ञ विद्वानों को विचार कर स्पष्ट करना चाहिये कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का क्या एक ही अभिप्राय है, या भिन्न भिन्न।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भवन के कार्यों का सिंहावलोकन

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यों तो जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की नींव सन् १९०३ में ही पड़ चुकी थी। पर हां, उस समय यह जैन-धर्म-पुस्तकालय के नाम से स्थापित हुआ था और साथ ही साथ इसके उद्देश भी इतने उच्च, गम्भीर एवं व्यापक नहीं थे। उक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय को सन् १९०३ में श्रीमान् भट्टारक हर्षकीर्तिजी की अध्यक्षता में श्रीमान् स्व० बा० देव-कुमारजी ने स्थापित किया था। इसमें उस समय बा० देवकुमारजी के घर के बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त भट्टारक श्रीहर्षकीर्तिजी तथा स्थानीय कई धर्मात्माओं के अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी शामिल कर दिये गये थे। स्व० बा० देवकुमारजी के श्रद्धेय पितामह पं० प्रभुदासजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आप पं० भागचन्दजी, पं० दौलतरामजी आदि समाजमान्य विख्यात विद्वानों के समसामयिक थे। आपके पास संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। पं० प्रभुदासजी के स्वर्गवास के बाद वह पैत्रिक अमूल्य निधि स्व० बा० देवकुमारजी को मिली थी जिसको इन्होंने उक्त पुस्तकालय को भेंट कर दिया था।

उपर्युक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय प्रारंभ में श्रीमती स्व० श्रेयांस कुंवरी के द्वारा निर्मापित सुविशाल, श्रीशांतिनाथ भगवान् के भव्य मंदिर के बगल के एक विशाल हॉल में खोला गया था। पीछे सन् १९०८ में जब बा० देवकुमारजी का स्वर्गवास हुआ, तब उनके अंतिम दिव्य आदेशानुसार सन् १९११ में, आमन्त्रित अन्यान्य प्रान्तों के जैन-जैनेतर विशाल जनसमुदाय के समक्ष पूर्वोक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय का नाम ही जैन-सिद्धान्त-भवन या The central Jaina Oriental Library के रूप में परिवर्तित किया गया। बा० देवकुमारजी के अंतिम पवित्र आदेश निम्न-प्रकार थे:

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अंतिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मंदिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये। क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्त्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी ही चिंता में था, किंतु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस कार्य को पूरा न करूंगा तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ। अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तंभ स्वरूप हैं। इसलिये इस परमावश्यक कार्य का संपादन करना आप सबका परम कर्त्तव्य है।"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीमान् देवकुमारजी के इस अंतिम आदेश को पढ़कर हृदय गद्गद होता है, शरीर प्रफुल्लित हो जाता है और नेत्रों में आंसू भर आते हैं। वास्तव में देवकुमारजी एक महान् व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु बहुत ही अल्प अवस्था अर्थात् सिर्फ ३१ साल में हुई थी। अगर वे अबतक जीवित रहते तो पता नहीं कि जैन समाज की उन्नति के लिये वे क्या क्या करते! श्रीमान् स्व० सेठ माणिकचंद्रजी बंबई के बाद दिगम्बर जैन समाज के सच्चे सेवकों में बा० देवकुमारजी का ही शुभ नाम लिया जाता है। बा० देवकुमारजी के सफल नाम से दिगम्बर जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। उन्होंने पाठशालायें स्थापित कराईं, विद्यार्थि-निलय (जैन बोर्डिंग हाउस) खुलवाया, वर्षों तक हिंदी 'जैन गजट' के संपादन द्वारा जैन समाज एवं साहित्य की सेवा की। आरा में उक्त जैन-सिद्धांत-भवन स्थापित करने का पवित्र भाव उन्हें सन् १९०७ की दक्षिणयात्रा के द्वारा ही उदित हुआ। इस यात्रा में बा० देवकुमारजी को खासकर मूडबिद्री में कई एक प्राचीन शास्त्रभाण्डारों का अवलोकन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन भाण्डारों की व्यवस्था अत्यधिक शोचनीय थी। इसी से उन्होंने महसूस किया कि इन बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थरत्नों की रक्षा के लिये एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना परमावश्यक है।

प्रारंभ में जैन-सिद्धान्त-भवन के मंत्री श्रीमान् स्व० बा० करोडीचन्द्रजी थे। इन्होंने आमरण भवन की अच्छी सेवा की। इनके मंत्रित्वकाल में खासकर ताड़पत्र के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हुआ है। इस पवित्र कार्य में श्रीमान् श्रद्धेय नेमिसागरजी वर्णी (वर्तमान भट्टारक श्रवणबेल्गोल) का विशेष हाथ था। अन्यथा ताड़पत्रांकित ग्रन्थों का इतना संग्रह होना आसान काम नहीं था। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने ताड़पत्र के इन अमूल्य ग्रन्थों के संग्रहार्थ पर्याप्त द्रव्य व्यय किया था। इस अत्यावश्यक पवित्र कार्य के संपादन के लिये कई योग्य प्रचारक खासकर कर्णाटक एवं तमिल प्रांत में भेजे गये थे। इन प्रचारकों ने ग्रन्थसंग्रह के साथ साथ दक्षिण के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की ग्रन्थ-तालिकाएं भी तैयार कर ली थीं जो कि आज भी भवन में मौजूद हैं। हां, पर मालूम होता है कि ये ग्रन्थ-तालिकाएं बहुत असावधानी से तैयार की गई थीं; इसीलिये इनमें बहुत सी भद्दी भद्दी भूलें रह गई हैं। खासकर दक्षिण भारत के मूडबिद्री, कारकल, वरांग, हुंबुच्च एवं श्रवणबेल्गोल आदि सुप्रसिद्ध प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की एक विस्तृत, प्रामाणिक, सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थसूची का निर्माण होना बहुत ही आवश्यक है। मेरी धारणा है कि उक्त विशाल ग्रन्थभाण्डारों में ऐसे-ऐसे भी अनेक ग्रन्थरत्न उपलब्ध हो सकते हैं, जिनके केवल नाम ही अन्यान्य रचनाओं में मिलते हैं। साथ ही साथ कर्णाटक तथा तमिल प्रांत के देहातों में भी ग्रन्थान्वेषण का कार्य अवश्य होना चाहिये। पर खेद की बात है कि इन परमावश्यक महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर किसी भी संस्था का ध्यान नहीं जाता! अस्तु, यह विषयांतर है। बा० करोड़ीचन्द्रजी एक साहित्यप्रेमी उत्साही सज्जन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

थे। इस जैन-सिद्धान्त भास्कर का शुभ जन्म भी सन् १९१२ में इन्हीं के मंत्रित्वकाल में हुआ था जो कि स्वनामधन्य श्रीमान् सेठ पद्मराजजी जैन रानीवाले के सफल सम्पादकत्व में एक वर्ष तक सुचारुरूप से चलकर बन्द हो गया था।

इस प्रकरण में श्रीमान् स्व० बा० देवेन्द्रप्रसादजी का नाम भी अवश्य उल्लेखनीय है, जिन्होंने करोड़ीचंद्रजी के उपर्युक्त प्रत्येक पुनीत कार्य में बराबर सहायता की थी। खासकर हिन्दुस्तान भर के जैन तीर्थों के फोटो जो भवन में संगृहीत हैं वे इन्हीं देवेन्द्र प्रसादजी के सुप्रयत्न के सुमधुर फल हैं। बा० देवेन्द्र प्रसादजी अंत तक जैन-सिद्धांत-भवन के सहायक मंत्रीपद पर आरूढ़ रहे। इन दोनों की असामयिक मृत्यु के उपरान्त श्रीमान् बा० सुपार्श्व-दासजी गुप्त बी० ए० सन् १९२२ तक बराबर भवन की सेवा करते रहे। इनके मंत्रित्व-काल में ग्रन्थसंग्रह के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय कार्य नज़र नहीं आता। हां, जैन-सिद्धांत-भवन में विद्यमान प्राकृत, संस्कृतादि भाषाओं के हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित हुई है अवश्य। पर यह सूची अधिक सुन्दर नहीं बन सकी है। फिर भी गुप्तजी का यह साहित्यिक कार्य अवश्य प्रशंसनीय है।

सन् १९२३ के अप्रैल मास में, जैन-सिद्धांत-भवन के कार्यभार को स्व० बा० देवकुमारजी के सुयोग्य ज्येष्ठ-पुत्र श्रीमान् बा० निर्मलकुमारजी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। संयोगवश उसी साल जुलाई महीने में काकतालीयन्याय से मैं भी आरा आ पहुंचा। इसके बाद भिन्न-भिन्न समय में भवन के द्वारा मुख्य-मुख्य जो जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए हैं, उनका विवरण निम्न प्रकार है:

सर्व प्रथम भवन में संगृहीत कन्नड एवं तमिल लिपि के अन्यान्य भाषाबद्ध बहुमूल्य ताड़पत्र के ग्रन्थों की एक विश्वस्त तालिका तैयार की गई। क्योंकि इन ग्रन्थों की जो तालिका पहले से भवन में मौजूद थी, उसमें बहुतसी भद्दी-भद्दी त्रुटियां रह गई थीं। बाद जैनेतर हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, संस्कृत, प्राकृतादि नागरी-लिपि के अनेक संग्रह-ग्रंथों की विस्तृत सूची आदि प्रायः भवन की सभी ग्रंथसूचियां ठीक की गईं। सूचियों को ठीक करने के बाद भवन के अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियां एकत्रित की गईं, जो कि दो जिल्दों में भवन में सुचारु रूप से सुरक्षित हैं। बल्कि उन्हीं में की कुछ प्रशस्तियां 'प्रशस्ति-संग्रह' के नाम से हाल ही में प्रकाशित हो चुकी हैं जिनकी अन्वेषक विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसाकर शेष प्रशस्तियों को शीघ्र ही प्रकाशित करने के लिये जोरदार शब्दों में अनुरोध किया है।

इसके उपरांत भवन ने मुनिसुव्रतकाव्य के हिंदी अनुवाद के कार्य को अपने हाथ में लिया। यह एक बहुत ही सुंदर, सरल एवं सरस जैन महाकाव्य है जो कि सन् १९२९ में भवन की ओर से सटीक प्रकाशित हो चुका है। पश्चात् सन् १९३३ में, भवन में संगृहीत

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अंग्रेजी पुस्तकों की एक सर्वांगसुंदर तालिका (Catalogue) एवं सन् १९३४ में ज्ञान-प्रदीपिका नामक फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ज्योतिष ग्रंथ प्रकाशित किया गया। सन् १९३५ में यह भास्कर पुनः उदित होकर जैन इतिहास, साहित्य, शिल्प, पुरातत्त्व, दर्शन आदि की जो अपूर्व सेवा कर रहा है, वह विज्ञ पाठकों से छिपी नहीं है। इसी जैन-सिद्धांत-भास्कर में क्रमशः तिलोयपण्णति [जैन-लोकज्ञान-सिद्धांत विषयक एक सुंदर प्राकृत ग्रंथ], प्रशस्ति-संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन], वैद्यसार [रसायन संबंधी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रंथ], प्रतिमा-लेख-संग्रह, Jaina Literature in Tamil नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ धाराप्रवाह से प्रकाशित होते रहे जिनकी प्रतियां 'विक्रयार्थ अलग भी तैयार कराई गई हैं।

महत्त्वपूर्ण इस प्रकाशन के बीच में कन्नड-साहित्य-परिषत्-पत्रिका, प्रबुद्ध कर्नाटक, जय कर्नाटक, सुबोध, त्रिवेणि,+ विवेकाभ्युदय, शरण साहित्य, अध्यात्मप्रकाश, शक्ति, भारति,+ कर्णाटक बन्धु, बडवर बन्धु, कण्ठीरव (विशेषांकों में), किशोर, बालक, विश्ववाणी, वीरवाणि+ वीर, जैन दर्शन, जैन संदेश, जैन मित्र, जैन गजट, खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, जिनविजय, जैन बोधक, अनेकांत, आर्यमहिला, आदर्श जैन चरितमाला, गोलापूर्व जैन, दिगम्बर जैन आदि सुप्रसिद्ध जैन एवं जैनेतर सामाजिक तथा सार्वजनिक पत्रों में अन्यान्य भाषाओं में मेरे द्वारा लिखे गये अन्यान्य विषय संबंधी छोटे-बड़े लगभग २०० लेखों; जैन दर्शन, जैनर मूरु रत्नगलु (कन्नड) दिगम्बर मुद्रा की सर्वमान्यता, मूर्त्तिपूजा की आवश्यकता, (हिंदी तथा कन्नड) आत्मनिवेदनम्, शांतशृंगारविलासः (संस्कृत) आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचारार्थ लिखी गई लघुकलेवर रचनाओं; चित्रसेनपद्मावतीचरित, मुहूर्तदर्पण, कामन कालग (एक कन्नड खण्ड-काव्य) आदि मेरे द्वारा संपादित ग्रंथों एवं शांतीश्वरचरित, वृहद्समाधिमरण, चित्रसेनपद्मावतीचरित, ज्ञानकोष, रत्नकरण्डश्रावकाचार, ज्ञानप्रदीपिका और क्षत्रचूडामणि-काव्य आदि ग्रंथों के लिये लिखी गई आलोचनात्मक भूमिकाओं का श्रेय भी भवन को प्राप्त है। इतना ही नहीं धवला, जयधवला, पंपभारत, शान्तिपुराण, कविराजमार्ग, शान्तीश्वरचरित, परमात्मप्रकाश, पुष्पदंतपुराण, रसरत्नाकर, लीलावति, पंचतंत्र, वर्धमानपुराण, अभिधानरत्नमाला, शब्दमणिदर्पण और औषधिकोष आदि महत्त्वपूर्ण प्राकृत, संस्कृत एवं कन्नड आदि भाषाओं के ग्रंथों के प्रकाशन में भी प्रतिदान आदि के द्वारा भवन ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

यह हुई भवन के प्रकाशन की बातें। अब ग्रंथ-संग्रह की बातों को लीजिये। सन् १९२३ में, भवन में संगृहीत प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, मराठी, गुजराती, कन्नड, तमिल एवं तेलुगु आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित ग्रंथों की संख्या कुल ११९१ थी।

+ दीर्घ ईकारांत संस्कृत शब्द कन्नड़ भाषा में ह्रस्व ही होता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वही संख्या आज लगभग ६५०० को पहुंच गई है। इसी प्रकार मुद्रित अंग्रेजी पुस्तकों की संख्या सन् १९३० में जो लगभग ५०० की थी वह आज लगभग २६५० की है। इस समय ताड़पत्र एवं कागज पर लिखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग ६३७८ की है। हां, इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि मुद्रित ग्रन्थों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, उतनी वृद्धि हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या में नहीं हुई। इसका कारण स्पष्ट है कि हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपि में काफी द्रव्य व्यय होता है और इस कार्य को भवन की आय के अनुकूल प्रतिवर्ष सीमित रखना पड़ता है। फिर भी इस बीच में भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों से खोज-खोज कर बहुत से मौलिक ग्रंथ लिखवाये गये हैं जिनकी प्रतिलिपियां भवन में पहले से मौजूद नहीं थीं। बल्कि इस कार्य के लिये हमें प्राचीन कई ग्रन्थ-भाण्डारों की नई सूचियां भी तैयार करानी पड़ीं। भवन में संगृहीत कन्नड लिपि में वर्तमान ताड़पत्र के कई ग्रंथों की नागरी लिपि में प्रतिलिपि भी करनी पड़ी। भवन से भी बहुत से ग्रन्थ प्रतिलिपि करवाकर बाहर भेजे गये। हां, सुज्ञ पाठक इतना अवश्य स्मरण रखेंगे कि भवन में मुद्रित या हस्तलिखित जो कोई भी ग्रन्थ संगृहीत होता है वह चुना हुआ महत्त्वपूर्ण ही होता है। ग्रन्थों के अतिरिक्त Coin Collection, Currency Notes Collection, Stamp Collection, Match Collection, Playing Cards Collection, Cartoon Colleetion, Art Picture Collection इन चीजों का भी भवन में अच्छा संग्रह हो गया है जिसका सारा श्रेय श्रीमान् बा० निर्मलकुमारजी के चि० सुपुत्रों को मिलना चाहिये। भवन में, भिन्न-भिन्न प्रांतों में विराजमान जिनप्रतिमाओं पर के लेखों का भी उल्लेखनीय संग्रह है जो कि जैन इतिहासनिर्माण के लिये अन्यतम उपयोगी साधन है।

जैन भ्रातृसंघ आदि जैन संस्थाओं के अतिरिक्त साहित्यमण्डल, साहित्यपरिषत्, जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि सार्वजनिक स्थानीय साहित्यक संस्थाओं को भी भवन ने स्थानप्रदान आदि के द्वारा पर्याप्त साहाय्य पहुँचाया है। इतिहास, साहित्य आदि गंभीर विषयों से संबंध रखनेवाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भी भवन ने बराबर दिया है जिससे पत्रप्रेषक विद्वानों को पर्याप्त संतोष मिला है। साथ ही साथ यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भारत के प्रत्येक प्रांत के जैन जैनेतर मान्य विद्वानों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में भवन से बराबर लाभ उठाया है और उठा रहे हैं। बल्कि भवन के अध्यक्ष के नाते नहीं, किंतु एक साहित्यिक की हैसियत से मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि दिगम्बर जैन समाज में यह एक अद्वितीय संस्था है जिसके जोड़ की वर्तमान में दूसरी कोई संस्था नहीं है। महात्मा गांधी, श्रीमान् पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमान् सच्चिदानंद सिनहा, दीवान मिरजा एम० इस्मायल, Dr. Walther Schubring, Germany. W. Norman Brown America आदि सैकड़ों पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भवन का संग्रह, सुव्यवस्था आदि के संबंध में जो शुभ उद्‌गार प्रकट किये हैं उन सबों को यदि संग्रह किया जाय तो एक बड़ी पोथी ही बन जायगी।

बा० देवकुमारजी अपनी मृत्यु के पूर्व कुछ संस्थाओं एवं मंदिरों के स्थायी संचालन के लिये अपनी जमींदारी में से ५०००) रुपये वार्षिक आयवाला एक गांव दान कर गये हैं। उसी में से १५००) रुपये प्रति वर्ष जैन-सिद्धांत-भवन को मिलते हैं। इस आय के अतिरिक्त देवकुमारजी के धर्मश्रद्धालु सुयोग्य सुपुत्र बा० निर्मलकुमारजी एवं चक्रेश्वर-कुमारजी से और भी आवश्यकतानुसार यथेष्ट सहायता मिलती रहती है। बल्कि भवन के भवन-निर्माणार्थ प्रारंभ में बा० देवकुमारजी जो २०००) रुपये नगद दे गये थे उनमें २०-२५ हजार और मिलाकर उनके सुपुत्रों ने सन् १९२४ में एक बहुत भव्य मंदिर निर्माण कराया है जिसकी प्रशंसा सभी दर्शक मुक्तकण्ठ से किया करते हैं। वास्तव में भवन की यह इमारत बहुत ही सुंदर बनी है। यह भवन दो मंज़िला है। इसके प्रवेशद्वार के ऊपर सरस्वती की एक दर्शनीय मूर्ति विराजमान है। इसके बरामदे के बाद एक बहुत बड़ा हॉल है, जिसमें दो-तीन सौ आदमी आराम से बैठ सकते हैं। हॉल काफी हवादार और प्रकाशपूर्ण है। इस हॉल में प्रवेश करते ही ३ फुट लंबा और २७ इंच चौड़ा भवन के संस्थापक स्व० बा० देवकुमारजी के दिव्य तैल चित्र पर दृष्टि पड़ती है जो बहुत ही आकर्षक है। हॉल में अभ्यागतों एवं वाचकों के बैठने के लिये फ़र्श बिछा रहता है। फ़र्श के एक ओर एक लंबा टेबुल है, जिसपर बहुत सी पत्रपत्रिकाएं रखी रहती हैं। नीचे और ऊपर बड़ी-बड़ी अलमारियां पुस्तकों से सुशोभित हैं।

अस्तु, इस लेख को अधिक बढ़ाना मेरा अभीष्ट नहीं है। इसलिये अंत में मैं इतना और कह देना चाहता हूं कि ताड़पत्र पर लौह लेखनी से लिखे गये सुंदर से सुंदर ग्रन्थ [जिनके पत्र लगभग ४ अंगुल चौड़े, १॥-२ बालिश्त या उनसे भी अधिक लंबे हैं], मनोज्ञ कलापूर्ण, सचित्र जैन रामायण [जिसके आश्चर्यकारी रंगीन चित्र निहायत पतले और चमकदार कागज़ पर प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में अंकित हैं], एक छोटे से कार्ड पर लिखित तत्त्वार्थसूत्र तथा भक्तामरस्तोत्र, सोलह स्वप्न, समवसरण, महाराज चन्द्रगुप्त, पावापुरी एवं सम्मेदशिखर आदि के कलापूर्ण सुंदर चित्र आदि भवन की बहुत सी दर्शनीय चीजें मौजूद हैं। विद्वान् लेखकों और कलाकारों के श्रम और चातुर्य का अवलोकन कर एकबार हृदय गद्‌गद हो जाता है और मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। वास्तव में यह भवन खासकर जैन-धर्म-विषयक साहित्य, पुरातत्त्व एवं इतिहास आदि के अनुसंधान के लिये एक अद्वितीय संस्था है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'नीतिवाक्यामृत' आदि के रचयिता श्रीसोमदेवसूरि

[ले० श्रीयुत डा० वी० राघवन, एम० ए०, पी-एच० डी०]

'श्री माणिक्यचंद्र दि० जैन ग्रन्थमाला' (नं० २१) में श्रीसोमदेवसूरिकृत 'नीतिवाक्यामृत' का प्रकाशन टीकासहित हुआ है। उस टीका के आरंभ में उल्लेख है कि सोमदेव ने यह ग्रंथ कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के इच्छानुसार रचा था। श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस ग्रंथ की भूमिका में इस उल्लेख को अप्रामाणिक ठहराते हैं। यही नहीं, टीका के और भी कई उल्लेखों को उन्होंने अप्रामाणिक बताया है। वह यह भी कहते हैं कि यदि टीकाकार का उक्त कथन सच मान लिया जाय तो कालगणना में बहुत गड़बड़ी आती है। (पृ० २१-३०) प्रेमीजी ने पृ० २१-२२ पर लिखा है कि महेन्द्रपाल ने सन् ९०३-७ तक शासन किया है और वह राजशेखर के संरक्षक थे। सोमदेवजी ने अपना 'यशस्तिलक-चम्पू' सन् ९५६ ई० में पूर्ण किया। 'नीतिवाक्यामृत' उसके बाद की रचना है क्योंकि उसकी प्रशस्ति में सोमदेव के अन्य ग्रंथों के साथ 'यशस्तिलक' का भी उल्लेख है। इसका अर्थ हुआ कि महेन्द्रपाल से ५० या ५१ वर्ष पश्चात् 'नीतिवाक्यामृत' रची गई थी। अतः टीकाकार का कथन कि महेन्द्रपाल के लिये 'नीतिवाक्यामृत' की रचना हुई, ग़लत है। यह एक कल्पित कथा ही है।

इसके अतिरिक्त लेमुलवाड के दानपत्र से जो 'भारत इतिहास संशोधक पत्रिका' (१३।३) में प्रकाशित हुआ है और जिसका उल्लेख प्रेमीजी ने अपनी पुस्तक "जैन साहित्य और इतिहास" (पृ० ९०-९२) में सोमदेव के नीतिवाक्यामृत के प्रसंग में किया है, प्रकट है कि सोमदेव उस दानपत्र के समय अर्थात् ९६६ में राष्ट्रकूट-करद वड्डग के पुत्र तृतीय अरिकेसरिन् चालुक्य के राज्य में रहते थे। वड्डग अरिकेसरी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके समय अर्थात् ९५९ ई० में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' को रचकर समाप्त किया था।

किन्तु एक ग्रंथकर्त्ता की रचनाओं का उल्लेख उसके किसी अन्य ग्रंथ की प्रशस्ति में होने पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता अर्थात् यह मानना बिल्कुल निरापद नहीं है कि चूंकि 'नीतिवाक्यामृत' की प्रशस्ति में 'यशस्तिलक' का उल्लेख है, इसलिए वह उसके बाद की रचना है। यह तभी मान्य हो सकता है कि जब यह निश्चित हो जावे कि लिपिकर्त्ताओंने संधियों और प्रशस्तियों में हस्तक्षेप नहीं किया है। दूसरे टीकाकार ने जिन कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के लिए सोमदेव को 'नीतिवाक्यामृत' रचते लिखा है,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वे उस नाम के द्वितीय महेन्द्रपाल नरेश होंगे, जिनका पता डा० त्रिपाठी ने दक्षिणी राजपूताना से उपलब्ध सन् ९४६ ई० के शिलालेख से पाया है और उसका उल्लेख अपनी 'हिस्ट्री ऑव कन्नौज' (पृ० २६९-२७१) में किया है। बालकवि रूप में राजशेखर को महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०) का संरक्षण प्राप्त था और उन्हीं का उल्लेख सोमदेव ने सर्व अन्तिम ग्रंथकार के तरीके से किया है। वह एक अधिक वृद्धावस्था तक अर्थात् ९० वर्ष तक जीवित रहे थे अर्थात् त्रिपुरी के युवराजदेव द्वितीय के समय ९९० ई० तक मौजूद थे, जैसे कि मम० वी. वी. मिराशी ने सिद्ध किया है।[1] मान लीजिए कि सोमदेव राजशेखर से उम्र में थोड़े ही छोटे थे और उनकी आयु भी अधिक थी, तो उनकी ज्ञात तिथियों (९५९ ई० यशस्तिलक और ९६६ ई० लेमुलवाड का दानपत्र) से उनका महेन्द्र-पाल प्रथम के सम्पर्क में आना भी असंभव नहीं ठहर सकता।

लेमुलवाड दानपत्र में सोमदेव के दादागुरु का नाम गौडसंघ के यशोदेव लिखा है। चूंकि 'यशस्तिलक' में सोमदेव को देवसंघ का आचार्य लिखा है, इसीलिए प्रेमीजी ने बताया है कि संभवतः गौड़ से अभिप्राय 'गोल्ल' से होगा, जिसका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में मिलता है।[2] यदि गौडसंघ का अर्थ बंगालीय प्राधान्य का संघ न माना जावे, तो सोमदेव को गौडसंघ से सम्बन्धित क्या अर्थ रक्खेगा, जैसा कि उल्लेख है ?

यह स्पष्ट है कि सोमदेव के 'यशस्तिलक' में अगणित ऐतिहासिक एवं अन्य उल्लेख हैं—बहुधा उनका वर्णन श्लेषालंकार के द्वारा किया गया है। एक दफा प्रारंभ में और फिर अन्त में सोमदेव राजा को 'धर्मावलोक' कहकर सम्बोधित करते हैं :—

१. अहो × × × धर्मावलोक महीपाल × ×

(अ० २, पृ० १९६)
K. M. 70 Pt. I

२. अहो × × × धर्मावलोक × ×

(अ० ४ पृ० ७९)
K. M. 70 Pt. II

राष्ट्रकूट-करद वड्डग चालुक्य की संरक्षकता में 'यशस्तिलक' की रचना की गई थी। और उसमें राष्ट्रकूट सम्बन्धी अनेक उल्लेख हैं, जिससे कवि का सम्पर्क उन राजाओं से प्रकट होता है। उदाहरणतः पृ० २८१ (भा० १) पर राजा का उल्लेख 'विक्रमतुङ्ग' रूप में हुआ है। यह 'तुङ्ग' शब्द राष्ट्रकूट-गुण सूचक है—राष्ट्रकूट राजाओं के नाम के अन्त में 'तुङ्ग' होता है। 'असमसाहस' वाक्य पृ० ५६२ (भा० १) पर एक योद्धा का नाम सूचक

१ The Chronological order of Rajasekhar's works, Pathak, —Com: Vol pp. 365—366.

२ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८९.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

है और उससे सांगली और कैम्बे दानपत्रों में गोविन्द चतुर्थ के लिए प्रयुक्त वाक्य 'त्यागेनासमसाहसैश्च' का स्मरण होता है। पृ० ५६७ पर राजा का वर्णन 'चैद्यसुन्दरी-विनोदकन्दलः' रूप में हुआ है और यह सर्व प्रकट है कि राष्ट्रकूट और चेदि राजवंशों में परस्पर विवाह सम्बन्ध हुए थे। अमोघवर्ष तृतीय और उनके पुत्र कृष्ण चतुर्थ, जिन्होंने गोविन्द चतुर्थ से चेदि सहायता द्वारा राजसिंहासन प्राप्त किया था, चेदि राजाओं के 'दामाद थे। पृ० ८५ (भा० २) एक मंत्रि का नाम 'वसुवर्ष' लिखा है और एक बन्दिन् को सुभाषितवर्ष कह कर सम्बोधन है। वर्षान्तक नाम राष्ट्रकूटों की ही विशेषता है। उनके सहायक और सम्बन्धी चेदि राजाओं के भी ऐसे नाम मिलते हैं।

अब देखना है कि राष्ट्रकूटवंश के मुख्य नरेशों अथवा उनकी शाखागत या करद नरेशों में किसी का उल्लेख 'धर्मावलोक' रूप में हुआ है? यह निश्चित है कि 'अवलोक'-अन्तक विशेष नाम राष्ट्रकूटों के ही होते हैं। सोमदेव ने जिस 'धर्मावलोक' विशेषण से नरेश का उल्लेख किया है, वह विशेषण बोधगया राष्ट्रकूट शाखा के राजा, गणगुणार्णव के पौत्र और कीर्तिराज के पुत्र तुङ्गधर्मावलोक के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था।[1] सोमदेव ने इस वाक्य को किसी विशेष भाव से प्रयोग में लाया होगा और बहुत कर के उन्होंने बोधगया शाखा के उक्त राजा के सम्पर्क को स्मरण कर के उसका प्रयोग किया है। यदि सोमदेव बोधगया की ओर कुछ समय के लिए रहे माने जावें तो उनका गौड़संघ से सम्बन्धित होना संभव है।

इतिहास में कई दफा ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे प्रकट है कि राष्ट्रकूटों, चेदि और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों में घनिष्ट सम्बन्ध था। स्वयं राजशेखर महोदय और त्रिपुरी के मध्य घूमते रहे थे। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय ने कन्नौज को नष्टभ्रष्ट किया था। इस आक्रमण में अरिकेसरिन् द्वितीय के पिता नरसिंह ने भाग लिया था और अरिकेसरिन् द्वितीय के पुत्र के समय में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' रचा था।[2] उपरान्त कर्णाट-गुर्जर सम्बन्ध इतने बढ़े कि विवाह सम्बन्ध भी उनके हुए, राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' में कुन्तलदेश के एक राजा का नाम वल्लभराज आया है, जो निस्सन्देह राष्ट्रकूट नरेश का द्योतक है। श्री मम० मिराशी ने उन्हें गोविन्द चतुर्थ बताया है। इन कुन्तल नरेश की

---

१ See Buddhagaya : R. Mitra, p. 195, a Bodhagaya Rastrakuta inscrip:, undated, but palaeographically assigned to the 10th. century A. D. by Mitra; the inscrip : is of the 15th. year of the king who is described as the pupil of गुणरत्न Gunaratna.

२ पम्पभारत और आंध्र हिस्टारीकल रिसर्च सोसाइटी, ६ पृ० १६९ श्लोक ९

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कन्या वीर चंडपाल (कन्नौज के महीपाल) से व्याही गई दर्शाई है।[1] 'कर्पूरमंजरी' के चतुर्थ जवनिकान्तर में जिन नृत्यों का वर्णन है, उनमें कर्णाटक शैली भी मिलती है चेदि और राष्ट्रकूट घरानों के विवाह सम्बन्ध तो सर्वप्रकट है। राजवंशों के ऐसे घनिष्ट सम्बन्धों के कारण ही प्रख्यात कवियों, विद्वानों और कलाकारों आदि का स्थानांतरित होना आवश्यक हो जाता है। इन सब बातों को मद्दे नज़र रखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि सोमदेव गौड़देश के गौड़संघ के एक आचार्य थे और संभवतः उनका सम्मान बोधगया के एक राष्ट्रकूट नरेश ने किया था। राष्ट्रकूट-करद चालुक्य अरिकेसरी और उनके उत्तराधिकारियों के समय में वह लेमुलवाड की ओर विहार करने गए थे और कन्नौज को जाते हुए चेदी एवं राष्ट्रकूट राजदरबारों में भी पहुँचे अथवा लेमुलवाड में रहते हुए ही जब कभी उपर्युक्त तीनों राजदरबारों में घूम फिर आते थे। ऐसी अवस्था में यह अनहोनी नहीं कही जा सकती कि उन्होंने कन्नौज के महेन्द्रपाल नरेश के लिए 'नीति-वाक्यामृत' की रचना की हो।

---

१ Chronological order of Rajasekhara's works, Pathak, Com: Vol pp. 363-4 गोविन्द चतुर्थ स्वयं परान्तक चोल के दामाद थे। चोल-राष्ट्रकूट विवाहसंबंधों के विषय पर A. S. रामनाथ अय्यर; इपीग्रेफिया इंडिका २६ पृ० २३०-५ देखो। अन्त में गोविन्द संभवतः टक्कोलम को भाग गए थे। आश्चर्य है कि सोमदेव ने कृष्ण तृतीय द्वारा चोल-राजकुमार राजादित्य के मरण (सन् ९४९ ई० टक्कोलम में) का उल्लेख नहीं किया है। न उनके बहनोई भूतग का उल्लेख है। कुछ वर्ष बाद कृष्ण तृतीय मेलपाटी में थे, तब सोमदेव ने अपना 'यशस्तिलक' लिखा था। सोमदेव ने तामिल देश के सैनिकों का वर्णन पृ० ४६३-४ पर किया है।

—अनुवादक कामता प्रसाद जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चन्देरी

चन्देरी ग्वालियर राज्य में बेतवा नदी के किनारे एक पहाड़ी पर एक दुर्गम दुर्ग है। ललितपुर से मोटर द्वारा जाने का सीधा रास्ता है। संभवतः इसे चन्देलवंशी राजपूतों ने बसाया था इसी से इसको चन्देरी या चन्द्रगिरि कहते हैं। इस नगर से ८ या ९ मील की दूरी पर एक बूढ़ी चन्देरी भी है जो ओर नदी के दक्षिण तट पर बसी है। इस बूढ़ी चन्देरी में दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के अनेक मन्दिर जिनमें विशेष जैनों के हैं, जीर्णावस्था में पड़े हैं तथापि उन में सुन्दर कला के पूर्ण रूप पाये जाते हैं। महाभारत या किसी पुराण में चन्देरी का जिक्र नहीं है। अलवेरुनी (१०३० खृ० सन्) ने सर्व प्रथम इसका उल्लेख किया है। मुगलराज्य के सान्ध्य काल में बुन्देलों ने इसपर आधिपत्य कर लिया किन्तु १८०६ ई० में महाराज दौलतराव सिन्धिया ने इसपर कब्जा कर लिया। गदर के समय यह अंगरेजों के हाथ लगा और १८६० में फिर सिन्धिया राज को लौटा दिया गया।

चन्देरी और बूढ़ी चन्देरी दोनों ही जैन यात्रियों के लिए दर्शनीय स्थान हैं। चन्देरी के आसपास अनेक गांवों में पुराने जैन मन्दिर जीर्णावस्था में पड़े हैं। यहां से ८ मील की दूरी पर थोवन (तपोवन) में ऐसे अनेक मन्दिर पड़े हैं और यह जैनों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।

चन्देरी दुर्ग और कातिघाटी के बीच खण्डर पहाड़ में जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। इनमें कुछ उत्कीर्ण शिलालेखों से प्रकट होता है कि वे १३ वीं शताब्दी की हैं। यथा उनमें १२५२, १२९१, १३०३, १३१६, १२८०, १२८३, १३५७ वि० सं० की उत्कीर्ण मूर्तियाँ और सती चौतरे पाये जाते हैं।

शहर में एक नया भी जैन मन्दिर है जिसे चौधरी वंश के प्रमुख श्री हृदय सहायजी ने वि० संवत् १८९३ में बनवाया था। चन्देरी के चौधरी जमीन्दार खानदानी पुरुष हैं और वे वहां पर लगभग २०० वर्ष से बस गये हैं। मुगलशासनकाल में राजपुताना में हिन्दोन से उनके पूर्वज रत्नपाल आकर यहां बस गये। राजपुताना से आने के पहले से ही वे जैन थे। रत्नपाल का एक पुत्र ताराचन्द औरंगजेब का प्रियपात्र होने के कारण मुसलमान हो गया, किन्तु ताराचन्द के अपुत्र मर जाने से वंश की ख्याति में कुछ क्षति न हुई। चौधरीजी ने बुन्देल राजाओं की अधीनता में सेवा स्वीकार की तथा उन्हें फौजदार, राजधर और सवाई उपाधियों से भूषित किया जिसे वे आज भी अपने नाम के साथ लगाते हैं। चौधरी हृदय सहायजी ने रामनगर में एक विशाल जैन रथोत्सव मनाया, अतः उन्हें सिंघई की उपाधि दी गयी। चौधरी मंगलसिंहजी श्री रत्नपालजी के १३ वीं पीढ़ी में हैं।

इस जैन मन्दिर के उच्च शिखर से शहर की शोभा दुगुनी हो जाती है। इसमें २४ सों तीर्थङ्करों की मूर्तियां सज़ी हैं। कृपया पूरे विवरण के लिये गर्देकृत '*A guide to Chanderi*' देखें।

दे० स० त्रिवेद

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

समीक्षा

तिलोय-पण्णत्ती [त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति]—रचयिता—श्रीयति वृषभाचार्य; सम्पादक—प्रो० आदिनाथ उपाध्याय, एम० ए० डी० लिट तथा प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए० एल०-एल० बी०; अनुवादक—श्री पं० बालचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—जैन संस्कृति-संरक्षण-संघ शोलापुर; मूल्य १२) रुपये; पृष्ठ-संख्या ३८+५२८।

यह ग्रन्थराज 'जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला' का प्रथम पुष्प है। प्रारम्भ में प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने अंग्रेजी में भूमिका लिखी है। इसके अनन्तर प्राक्कथन, जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला का परिचय, ब्र० जीवराज गौतमचन्द्र दोशी की जीवनी और प्रस्तावना हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन लोक-सम्बन्धी विषय का वर्णन गम्भीरतापूर्वक मार्मिक प्रणाली से हुआ हैं। यह करणानुयोग-सम्बन्धी अमूल्य रत्न होते हुए भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है। दैवज्ञ और गणितज्ञों को इसमें आधुनिक गणित से भिन्न और नवीन एक नहीं अनेक बातें मिलेंगी। करणसूत्रों की वासना में जो बौद्धिक चमत्कार है वह तो तद्विषय के जानकारों के लिये अपूर्व है। प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अनेक अर्थ बतलाते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों के द्वारा मंगल का विस्तृत वर्णन किया है। लोक का क्षेत्रफल और घनफल, वृत्रासन, यवमध्य, गिरिकटक, दूष्य इत्यादि आकारों की कल्पना करके विभिन्न रीतियों से व्यक्त गणित द्वारा निकाला है। क्षेत्रफल सम्बन्धी यह प्रकरण रेखागणित और अंकगणित की दृष्टि से बहुत ऊँचे दर्जे का है। नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों की संख्यानयन-सम्बन्धी सूत्र भी व्यावहारिक और उपयोगी है। इसी सम्बन्ध में गच्छ, चय, आदि और सर्वधन का साधन भी गणित-कौशल का सूचक हैं। पृष्ठ ८५ पर नरक पटलों में नारकियों की आयु बतलाई गई है, यह विषय सैद्धान्तिक और गणितज्ञ दोनों के लिये ही महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रक आदि बिलों में आयु के हानि-वृद्धि-क्रम का कथन करणानुयोग के जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम का है। इसी प्रकार नारकियों के शरीर की ऊँचाई उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र, जन्ममरण के अन्तरकाल का प्रमाण आाद का कथन भी गणित-प्रक्रिया-सहित बताया गया हैं।

तृतीय अधिकार के प्रारम्भ में भवनवासियों के भेद; उनके भवनों की संख्या; अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यमर्द्धि धारक देवों के भवनों का स्थान; भवन एवं उनकी वेदियों का विस्तार, दैर्घ्य और उत्सेध आदि का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया हैं। इसी अध्याय में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आगे जाकर असुरकुमारादि देवों के शरीर की ऊँचाई गणित के करणसूत्रों सहित बताई गई है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये यह विषय अत्यन्त मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक है।

चतुर्थ अधिकार के प्रारम्भ में मनुष्यलोक का वर्णन करते हुए प्रसंगवश पृष्ठ १६३ पर अंकित जीवा और चाप सम्बन्धी करण-सूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण है। भास्कराचार्य जैसे गणितज्ञों ने भी इतनी सूक्ष्मता से जीवा और चाप के गणित का कथन नहीं किया है। आचार्य के सूत्र की अपेक्षा भास्कराचार्य के सूत्र में पर्याप्त स्थूलता है। भास्कराचार्य के सूत्र की वासना स्वल्पान्तर से सिद्ध होती है, पर आचार्यकथित सूत्र में स्वल्पान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती। आगे इसी अधिकार में धनुष, जीवा आदि के गणित का कथन करते हुए विजयार्ध की उत्तर और दक्षिण जीवाओं का प्रमाण तथा पार्श्वभुजाओं का प्रमाण निकाला गया है। आगे इसी अधिकार में चौबीस तीर्थङ्करों के जन्मस्थान, माता-पिता, जन्मतिथि, जन्मनक्षत्र, वंशों का निर्देश, जन्मान्तराल का प्रमाण, आयु, शरीर आदि का उत्सेध, केवलज्ञान के समय तीर्थङ्करों के शरीर का ऊर्ध्वगमन, समवशरण की रचना, उसकी वीथियों का निरूपण, धूलिशाल, और नाट्यशाल आदि का निरूपण आदि विषय महत्त्व-पूर्ण हैं। यह स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासुओं के लिये विशेष आनन्ददायक है। इसी अध्याय में लवणसमुद्र, धातकीखण्ड और पुष्करवरद्वीप का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में आदि, मध्य और बाह्य सूची-व्यास सम्बन्धी विषय में कई नवीन बातें हैं तथा सूची की परिधि बनाने वाला नियम गणितज्ञों के लिये विशेष उपयोगी हैं। व्यास, परिधि, बाण, सूची-व्यास, वलयव्यास, आदि का कथन विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन अच्छा हुआ है। अनुवादक ने प्रत्येक क्षेत्र के परिधि, व्यास, जीवा, चाप और बाण के व्यक्ताङ्क निकालने में प्रशंसनीय श्रम किया है। हां, यदि करण-सूत्रों की वासना गणित के साथ ही दे दी जाती तो अधिक अच्छा होता। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त दोनों गणितों का समन्वय रहने से गणितज्ञों को अधिक लाभ होता। साथ ही जैन गणित का महत्त्व भी सूचित होता। आशा है, आगे इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जायगा। ग्रन्थ की छपाई, सफाई सर्वाङ्ग सुन्दर है। जैन साहित्य के प्रचार के लिये प्रत्येक मन्दिर और लाइब्रेरी में इस ग्रन्थराज को अवश्य मंगाना चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को तो इसकी एक प्रति अपने पास रखना नितान्त आवश्यक है।

—नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री न्यायज्योतिषतीर्थ

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पूर्वपुराणं—रचयिता—हस्तिमल्ल; सम्पादक—प्रो० के० जी० कुंदणगार, राजाराम कालेज, कोल्हापुर; प्रकाशिका—श्रीमती रुक्मिणीबाई, कोल्हापुर; पृष्ठ-संख्या—१२+५५=६७; मूल्य—१); १९४३; छपाई-सफाई सुन्दर।

इस पूर्वपुराण के रचयिता कवि हस्तिमल्ल का दिगम्बर जैन समाज में एक खास स्थान है। क्योंकि इस समाज के दृश्य काव्य-[नाटक] सम्बन्धी साहित्य के अंग को पुष्ट बनाने का सारा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनके दो नाटक मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई की ओर से प्रकाशित भी हो चुके हैं। हस्तिमल्ल के इस कन्नड पूर्वपुराण या आदिपुराण को प्रकाश में लाकर श्रीयुत प्रो० कुंदणगारजी ने कन्नड-भाषा-भाषियों का बड़ा उपकार किया है। वास्तव में इसके उपलक्ष में मित्रवर कुंदणगारजी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

दुर्भाग्यवश प्रो० सा० को इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के दो पृष्ठ नहीं मिले हैं। साथ ही साथ प्राप्त इस प्रति के प्रथम पर्व का पाठ भी बहुत अशुद्ध रहा। विद्वान् संपादक ने प्रारंभ के दो पृष्ठों की पूर्ति तो आदि पंप का आदि-पुराण एवं अभिनव पंप की रामायण इन दोनों के आधार से की है और प्रथम पर्व के अशुद्ध पाठ को नीचे रखकर उसका शुद्ध पाठ अपनी ओर से ऊपर दे दिया है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण काफी सुन्दर बन गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुंदणगारजी ने इसके संशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया है। फिर भी कहीं से इसकी दूसरी कोई शुद्ध प्रति मिल जाती तो संभव था कि यह और भी सुन्दर प्रकाशित होता।

इस ग्रन्थ में कुल दश पर्व हैं। इसमें प्रारंभ के सात पर्वों में भगवान् आदिनाथ की भवावलियां एवं शेष तीन पर्वों में उनकी पवित्र जीवनी वर्णित है। इसके प्रत्येक पर्व के प्रारंभ में आचार्य जिनसेन के पूर्वपुराण का प्रारंभिक मंगल-पद्य ही मिलता है। बल्कि श्रीपुराण में भी यही बात देखने में आती है। कवि ने अपने ग्रन्थ का नाम भी श्रीजिनसेन के पूर्वपुराण के समान पूर्वपुराण ही दे रक्खा है। फिर भी विज्ञ संपादक का कहना है कि यह ग्रन्थ महाकवि पंप के आदिपुराण से साम्य रखता है। ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ है। इससे कवि की 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' यह उपाधि सार्थक सिद्ध होती है।

हस्तिमल्ल ने अपने आश्रयदाता पाण्ड्यमहीश्वर का कोई नाम नहीं दिया है। सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे थे तो पाण्ड्यदेश के राजवंश के, परन्तु कर्णाटक में आकर राज्य करने लगे थे। दक्षिण कन्नड जिले के कार्कल में उन दिनों पाण्ड्यवंश का ही शासन रहा। यह राजवंश जैनधर्मानुयायी था और इसमें अनेक विद्वान् तथा कलाकुशल राजा भी हुए हैं। 'भव्यानन्द' के कर्ता भी अपने को सिर्फ पाण्ड्यक्ष्मापति ही लिखते हैं, कोई विशेष नाम नहीं देते। कार्कल में शासन करने वाला पाण्ड्यवंश पोंबुच्च (मैसूर) में राज्यक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

करने वाले जिनदत्तराय का वंशज था। मेरा खयाल है कि हस्तिमल्ल के आश्रयदाता पाण्ड्यराज इसी वंश के रहे होंगे। बल्कि श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक अपनी सुन्दर रचना में मेरे इस अनुमान का समर्थन किया है। हां, इसके अन्तिम निर्णय के लिये हस्तिमल्ल की कृतियों में प्रयुक्त पाण्ड्यराजधानी 'सारण्यपुर' तथा 'संततगम' इन दोनों की खोज परमावश्यक है।१

कवि के कालनिर्णय के प्रकरण में सम्पादक ने जहां पर स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत उद्धृत किया है, वहां पर थोड़ी सी भूल हो गई है। इससे तो सिद्ध होता है कि नरसिंहाचार्य हस्तिमल्ल को इस आदिपुराण के कर्ता नहीं मानते थे। परन्तु वास्तव में उनका मत इससे विपरीत था। उन्होंने भी हस्तिमल्ल को ही आदिपुराण का कर्त्ता अनुमान किया था। दूसरी बात है कि मेरे खयाल से 'सज्जनचित्तवल्लभ' के कर्त्ता मल्लिषेण ही हैं, न कि संपादक के कथनानुसार यह हस्तिमल्ल।

अन्त में सुज्ञ सम्पादक को फिर एक बार धन्यवाद दिये देता हूं कि जिन्होंने इस सुन्दर संस्करण को जनता के समक्ष उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। साथ ही साथ इसकी प्रकाशिका श्रीमती रुक्मिणी बाई एवं प्रेरक पूज्य स्वस्तिश्रीमुनि देशभूषण महाराज भी कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं। आशा है कि कर्णाटक-जनता इस सुन्दर ग्रन्थ से अवश्य लाभ उठायेगी।

—के० भुजबली शास्त्री

आदर्श महिला पं० चन्दाबाई—लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री; प्रकाशिका—महिलाभूषण पं० ब्रजबालादेवी, जैनबालाविश्राम, आरा; मूल्य १।॥); पृष्ठ-संख्या—प्रायः तीन सौ; छपाई-सफाई सुन्दर।

पं० चन्दाबाईजी एक आदर्श महिला हैं। आप जैन ही क्यों, अजैन हिन्दुओं में भी अपनी साहित्यिक साधनाओं तथा लोकहित की भावनाओं द्वारा प्रसिद्धि पा चुकी हैं। आप का जीवन तपाया हुआ सोना है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। ज्ञात होता है, आप अपने तपःपूत जीवन को किसी चिर सत्य की ओर अग्रसर करतीं निर्बाध गति से चली जा रही हैं। आत्म-सिद्धि के लिए लोक-कल्याण-साधन भी अत्यन्त अपेक्षित है, इसे आपने समझ लिया है। तभी तो बालाविश्राम द्वारा आप मन, वचन और कर्म से कितने ही लौकिक जीवों को पारलौकिकता का पाठ पढ़ाती रहती हैं!

इस ग्रन्थ में पंडिताजी के उद्देश्यों, आत्मानुभूतियों तथा उदार भावनाओं का अच्छा परिचय मिल जाता है। साथ ही किन किन कुलों को आपने पावन किया है, किन किन

१ विशेष के लिये देखें मेरे 'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ १०३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रतिष्ठित संस्थाओं ने आप को सम्मानित किया है तथा आप की सेवाओं से किन किन लोगों ने लाभ उठाया है, इत्यादि बातों का भी दिग्दर्शन हो जाता है। ग्रन्थ में अनेक चित्रों द्वारा रोचकता भी लायी गयी है।

लेखक महाशय सुयोग्य प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रकरणों में उचित क्रमबद्धता नहीं की जा सकी है। मालूम होता है, सामयिक पूर्वापर के विचार से वृत्तों का संकलन किया गया है। आत्मीयों का परिचय संक्षिप्त रूप में होता, तो अच्छा था। 'जैनमहिलादर्श का सम्पादन' शीर्षक प्रकरण में अभी और प्रकाश डाला जा सकता था। खैर, इस जीवनी में सामयिक पूर्वापर-द्वारा चरित-विभाग न कर विषयविभाग द्वारा प्रकरण बनाये जाते, तो ग्रन्थ अधिक सुन्दर होता। कारण कि आजकल का पाठक किसी जीवन-चरित को पढ़ कर चरितनायक की कुल बातें जानकर ही सन्तोष नहीं कर लेता। वह चाहता है कि लेखक आलोचनात्मक शैली द्वारा भिन्न-भिन्न पहलुओं से चरित-सम्बन्धी घटनाओं तथा विशेषताओं को वर्ग-बद्ध कर दे, ताकि हमें कुछ ढूँढ़ना न पड़े; प्रत्युत सजी सजायी वस्तुएँ मिल जायँ। उपर्युक्त शैली का अवलंबन न करने से ही कहीं-कहीं विषय की पुनरुक्तियाँ आ गयी हैं।

भाषा व्याख्यानात्मक है। जहाँ तहाँ व्याकरण और प्रूफ की अशुद्धियाँ भी हैं। समर्पण के श्लोक सदोष हैं। तथापि पुस्तक की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष ये दोष नगण्य हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में सुधार हो जायगा।

मैं जोरदार शब्दों में कहूँगा कि पुस्तक अवश्य संग्रहणीय है। पण्डिताजी के आदर्श पथ पर चल कर कितनी ही नारियाँ अपना कर्त्तव्य निर्णय कर सकतीं तथा जीवन को एक सधे हुए साँचे में ढाल सकती हैं।

—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य

जैनसाहित्य और इतिहास—पृष्ठ-संख्या २०+६१५; कागज उत्तम; छपाई सुन्दर एवं विशुद्ध; जिल्ददार; मूल्य ३ रुपये; प्रकाशक हेमचन्द्र मोदी; प्राप्तिस्थान—हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बंबई।

यह वही पुस्तक है जिसे अस्तंगत "जैन हितैषी" एवं वर्तमान "माणिक्यचन्द्र-ग्रन्थमाला" के यशस्वी तथा सुबुद्ध संपादक श्रीमान् पं० नाथूराम प्रेमीजी ने लिखा है। मेरी समझ में इस पुस्तक के गुण-दोषों पर विचार करने की शक्ति उसी की होगी, जिस जैन विद्वान् ने अपने साहित्य, इतिहास तथा पुरातत्त्व की समधिक अभिज्ञता प्राप्त की है। और वही इसकी समालोचना करने का प्रमुख तथा प्रकृत अधिकारी हो सकता है। इन गुणों में से एक भी गुण मुझ में नहीं। अतएव मैं इसकी आलोचना करने का अधिकारी नहीं। किन्तु सुहृद्वर पं० के० भुजबली शास्त्रीजी विद्याभूषण का अधिक अनुरोध और उसका

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उल्लङ्घन करने का साहसाभाव, इन दो कारणों ने इस पुस्तक की कुछ बातों का उल्लेख-मात्र कर देने को मुझे विवश किया है।

इस पुस्तक में जैन साहित्य और इतिहास का गंगा और सरस्वती के समान सुन्दर सुप्रशस्त संगम है। इसमें निम्नाङ्कित विषयों का बड़ा ही पाण्डित्य एवं गवेषणापूर्ण विवेचन किया गया है :—

लोक-विभाग और तिलोयपण्णत्ति, आराधना और टीकायें, यापनीय साहित्य की खोज, सोमसूरि का नीतिवाक्यामृत, देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण, पण्डित आशाधर, शाकटायन और उनका शब्दानुशासन आदि ४६ ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता। इनके अतिरिक्त ६ अप्राप्य ग्रन्थ। "छान-बीन" शीर्षक के अधस्तन संघो, संघवी, सिंघई, साधु, साहु, पति-पत्नी के समान नाम, साधुओं का बहु-पत्नीत्व, शूद्रों के लिये जिन-मूर्त्तियाँ, यज्ञोपवीत और जैनधर्म, जैनधर्म अनीश्वरवादी हैं आदि १२ विषय। 'परिशिष्ट' शीर्षक में लगभग १० ग्रन्थ और कुछ ग्रन्थों की साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पद्धति-द्वारा संक्षिप्त तथा समीचीन समालोचना। "नामसूची" शीर्षक के ४१ पृष्ठों में ग्रन्थों, ग्रन्थकारों संघ, गोत्र, स्थल, क्षेत्र और राजाओं के जितने भी नाम इस पुस्तक में आ गये हैं, वे सब के सब पृष्ठ-संख्या के साथ अक्षरानुक्रम से दे दिये गये हैं।

नौ पृष्ठों में पुस्तक का परिचय (Introduction) बड़ी योग्यतापूवक प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने अंग्रेजी में लिखा है। दो पृष्ठों में प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० ने संक्षेप में भारतीय इतिहास का अभाव, खासकर जैन संस्कृति के इतिहास की दुर्दशा एवं इसे सुदशा में परिणत करने के लिये प्रेमीजी के अदम्य अध्यवसाय तथा चिरचिन्तन का चित्र बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। "लेखक की ओर से" इस शीर्षक-द्वारा इस पुस्तक के प्रादुर्भाव का आद्योपान्त संक्षिप्त इतिहास और इस सदनुष्ठान में सहयोगदाताओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन किया गया है। प्रकाशक [अब स्मरणशेष स्व० हेमचन्द्र] ने अपनी माता की मृत्यु के समय अपने पूज्य पिता प्रेमीजी के द्वारा निकाले गये दो हजार रुपयों से इस पुस्तक के प्रकाशन का शुभानुष्ठान और इसकी आय से पुनः ऐसी ही किसी सत्कृति के प्रकाशन की सदिच्छा से कागज के ऐसे अतर्क्य और अचिन्त्य दौर्लभ्य के समय में भी इस पुस्तक की इतनी कम कीमत प्रचार-बाहुल्य के बिचार से रक्खी गयी है—यों दिग्दर्शन कराया है। आशा है कि धर्मप्राण साक्षर एवं निरक्षर जैन जनता अपने इतिहासगत निष्प्राण तथा निर्जीव समाज का मुखोज्ज्वल करने के लिये प्रेमीजी की इस पुस्तक को शीघ्र से शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर इन्हें ऐसा ही कोई जैन इतिहास-रत्न लिखवाने को बाध्य करेगी। क्या ही अच्छा हो यदि दानवीर शान्तिप्रसाद जी जैन इसकी बहुसंख्यक प्रतियां

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

खरीद कर सभी श्वेताम्बर दिगम्बर एवं थोड़ी बहुत अन्यान्य विश्वजनीन संस्थाओं में वितरित कर जैन साहित्य और इतिहास को बहुमूल्य निधियों की झाँकी दिखला दें।

इस पुस्तक के बहुतेरे विषय प्रेमी जी ने संपादक के रूप में अस्तमित "जैन हितैषी" में और अन्यान्य जैन मासिक पत्रों में प्रकाशित किये थे तथा अधिकांश अलभ्य रचनायें इधर लिखकर इस विशालकाय पुस्तक को सुसज्जित किया है। इसमें जहाँ-तहाँ अनेक उपयोगिनी पाद-टिप्पणियाँ सोने में सुगन्ध सी अंकित हैं। आप के साहित्यिक और ऐतिहासिक लेख के प्रतिपद से व्यञ्जित होता है कि अपने समाज, साहित्य और इतिहास को परिष्कृत एवं समुन्नत करने की लालसा आपके हृदय में सदा से ही उद्भ्रान्त रूप से प्रोच्छलित होती चली आ रही है। किसी विषय का आपका अनुसन्धान परिश्रम एवं पाण्डित्य-पूर्ण होता है। अतः प्रो० हीरालालजी का यह कहना अक्षरशः सत्य है कि प्रेमीजी का अनुसन्धान अनुसन्धानकों के लिये पथ-प्रदर्शक है। प्रेमी जी बड़े ही निरभिमान एवं प्रकृत पण्डित हैं। क्योंकि आप के पुराने लेखों में, जहाँ कहीं थोड़ी सी भी मत-विभिन्नता किसी विद्वान् ने प्रदर्शित की है, उसे बड़े आदर के साथ एवं निराग्रह अपनी पाद-टिप्पणियों में सन्निविष्ट कर दिया है।

प्राचीन तत्त्वानुसन्धान विभाग के अविराम परिश्रम और गवर्नमेन्ट के अमित अर्थव्यय से नये-नये तथ्य ज्ञात हो रहे हैं और लोगों का दुराग्रह एवं अज्ञान शनैः शनैः अन्तर्हित हो रहा है। यद्यपि पाश्चात्य और प्राच्य अजैन विद्वानों ने अन्वेषण-द्वारा जैन साहित्य तथा इतिहास के अनुसन्धान का मार्ग बहुत कुछ सुगम कर दिया है; पर मेरी तुच्छ बुद्धि में यह मत नितान्त भ्रान्त प्रतीत होती है कि कोई विजातीय विद्वान् व्यक्ति किसी दूसरी जाति के इतिहास पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ले। क्योंकि इतिहास अपने समाज के सम्बन्ध से ही एकमात्र सम्बद्ध है। वह दूसरी-दूसरी चीजों पर भले ही अधिकार प्राप्त कर ले, पर समाज पर उसका अधिकार हो ही नहीं सकता। किसी जाति के इतिहास का समाज किले की तरह मजबूत चहारदीवारी से घिरा हुआ है। इसे बाहरी आदमी के लिये दुर्गम ही समझना चाहिये। विजातीय किसी दूसरी जाति के आत्मीय नहीं हैं। इसीसे वे बेरोक-टोक किसी दूसरे के घर के भीतर नहीं घुस सकते। अतः विजातीयों का लिखा हुआ इतिहास यथार्थ इतिहास नहीं, बल्कि उसे इतिहास का सामान्य अंश समझना चाहिये; अथवा उसे इतिहास का परिशिष्ट स्थान मिलना चाहिये। मेरे इस उल्लेख का तात्पर्य यह है कि जैन इतिहास जैन विद्वान् ही लिख सकते हैं। दूसरों की दाल इसमें गल ही नहीं सकती।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराणतीर्थ

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भुजबलिचरितम्

—पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्पादक की ओर से

आत्रेयगोत्रीय, जैन-विप्रोत्तम, पण्डितमुनि के शिष्य, पिरियपट्टण के निवासी, करणिकतिलक देवप्प के पुत्र, सोलहवीं शताब्दी के कवि दोड्डय्य का यह भुजबलिचरित भुजबलिशतक के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस लघु कलेवर सुंदर संस्कृत काव्य में कवि ने पुराणप्रसिद्ध श्रीबाहुबली अथवा भुजबली की मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोलस्थ, लोक-विख्यात, आश्चर्यकारी, अलौकिक, अनुपम, दिव्य मूर्ति के इतिहास को सजीव ढंग से अंकित किया है। इस ऐतिहासिक रचना से इतिहासविशारद तो बहुत दिनों से परिचित थे। परंतु अप्रकाशित रहने से यह अभी तक सर्वसाधारण जनता के समक्ष न आ पाया था। गत मार्च में मूडबिद्री से प्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् मित्रवर एम० गोविंद पै से मिलने के लिये जब मैं मंजेश्वर गया तब इस कृति की अपने पास की हस्तलिखित प्रति मुझे दिखलाकर पै जी ने इसे जैन सिद्धांत-भास्कर में प्रकाशित करने के लिये मुझसे कहा। प्रति को तो मैं ले आया। किंतु पै जी की यह प्रति बहुत अशुद्ध थी। इधर-उधर दो-चार जगह लिखने पर भी जब इसकी दूसरी प्रति नहीं मिली तब गत्यंतराभाव से पै जी की प्रति के आधार पर ही भास्कर की गत किरण में 'चरित' के चार पृष्ठ दे दिये गये थे।

चार पृष्ठों के प्रकाशित होने के बाद मालूम हुआ कि सुहृद्वर एच० शेष अय्यंगार मद्रास के पास भी इसकी एक प्रति मौजूद है। तुरंत उसे मंगाकर मैंने देखा। उसके देखने से ज्ञात हुआ कि यों तो दोनों प्रतियां एक ही आदर्श प्रति की प्रतिलिपियां हैं, पर अय्यंगारजी की प्रति के लेखक पै जी की प्रति के लेखक की अपेक्षा अधिक सुबुद्ध हैं। इसलिये दोनों के आधार से पूर्व प्रकाशित पृष्ठों को फिर संशोधित कर इस किरण में प्रारम्भ से ही चरित समग्र दे दिया गया है। संशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया गया है। फिर भी यत्र-तत्र त्रुटियां रह गई हैं। ये त्रुटियां किसी शुद्ध प्रति की प्राप्ति के विना नहीं जा सकतीं। इसमें कोष्ठक में जो पाठ दिये गये हैं वे मेरे हैं। बल्कि जहां आवश्यक समझा गया है वहां अपनी ओर से कुछ फुटनोट भी लगाये गये हैं। यों तो साहित्यिक दृष्टि से ग्रंथ उत्तम है। हां, रचयिता ने जहां-तहां यति पर ध्यान नहीं दिया है। एक दो स्थानों में गण दोष भी है। व्याकरण सम्बन्धी भद्दी-भद्दी भूलों पर प्रश्नान्त चिह्न और साधारण भूलों पर आवश्यक टिप्पणियां दे दी गई हैं। ग्रन्थ में कहीं-कहीं बड़े सुंदर ढंग से अलंकारों का समावेश है। विषय के अनुसार भाषा में प्रसाद गुण का प्रवाह है। इतिहास की दृष्टि से तो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है ही। बल्कि इसी दृष्टिकोण से इसे भास्कर में स्थान दिया गया है।

अंत में मैं प्रतिप्रदान करनेवाले पै जी एवं अय्यंगार जी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अय्यंगार जी ने संशोधन में भी मुझे सहायता की है। संशोधन में मुझे और एक विद्वान् मित्र से मदद मिली है। वह हैं व्या० सा० वेदा० आचार्य पं० कमलाकांत जी उपाध्याय। मैं उनका भी आभारी हूँ। श्रीमान् पैजी को मैं फिर एकबार धन्यवाद दिये देता हूं जिनकी असीम कृपा से यह ऐतिहासिक कृति विज्ञ पाठकों के समक्ष आ सकी। —के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भुजबलिचरितम्

श्रीमोक्षलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नत्वादिकामं भरतानुजातं तस्य प्रशस्तां सुकथां प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलतः सन्ति[1] तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दाः सहवलयिता क्षारदाद्यावृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या-
माशायामस्ति भास्वद्भरतवरुषको मध्यगस्तारशैलः ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव श्रोद्भासमानं सदा
गंगासिंधुनदीविभागविलसत्षट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (१) खण्ड इति त्रिषष्टिसुशलाकापुरुषोत्पत्तिभै-
मित्तो भात्युपलावणाब्ध्युपनदीभिः पञ्चखण्डात्मिका [पञ्चखण्डाख्यकः] ॥३॥
तत्खण्डपद्म.....उदग्प्रदेशाः
तत्कर्णिकाद्राविडनामदेशो भातीह सौभाग्यसुखाधिवासः ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशस्ता मथुरा पुरी सा ।
तां रक्षति क्षत्रललामकोऽसौ श्रीराज [च] मल्लक्षितिपाग्रगण्यः ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री [सिंह] नन्दिव्रति-
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुपः सम्यक्त्ववरत्नाकरः ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराज [च] मल्लो विभुः ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्तः सदा
सर्वज्ञोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारंगतः ।
भास्वज्जैननिवासजैनवरबिम्बोद्धारधौरेयको
रेजे सद्गुणभूषणो बुधनुतः श्रीराज [च] मल्लो नृपः ॥७॥

---

१ बहुवचनञ्चिन्तनीयम् ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाब्जायते
दिङ्नागव्रजमस्तके रुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्यव-
त्त्वत्तेजो वरराज [च] मल्लनृपते रन्येऽप्य [वन्येष्व] शोकायते ॥८॥
स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा नक्षत्रमुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा त्रिशुद्ध्या ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
त्वत्कीर्त्तिप्रेयसी.....श्रीराज [च] मल्लक्षितीन्द्र ॥९॥

[1]

त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातशाखात्मकः
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः.....
त्वद्धावल्यनखांकुराः सुरसुमास्त्वद्वाचि सिद्धोरसः
त्वद्वाक्यं तु सुधैव दानसमये हे राज [च] मल्लप्रभो ॥१०॥
तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्ववचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥
प्रभातकाले नृपराज [च] मल्लः स्नात्वा च मानादिकसत्क्रियाश्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतवान् [महालंकृतिमान्] बभूव ॥१२॥
मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविव प्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥
अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावसराख्यकायाम् ॥१४॥
कश्चिद्वणिग्वंशललामकोऽस्य प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिङ्गितविग्रहस्सन् प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥
सदुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥

---

१ अत्र मात्रादोषः ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिब्रह्मपुत्रेण कुलंकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा स [सु] निर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनषट्शतप्रोद्धचापसमविग्र [हाश्चि] तः ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्केतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
पश्यतीव हसतीव सुवाक्यं जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमाऽसौ ॥१९॥
श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीबाहुबल्युरुतरप्रविभासमानः ।
श्रीचारुसत्प्रतिकृतिर्नयनद्वयस्य
मूर्त्तीयमानहरिताद्रिरिवोरु [वेह] भाति ॥२०॥
अकृत्रिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुकामधेनुः ।
चिन्तामणिः कल्पकुजः पुमानाकृतिं विधत्ते जिनबिम्बमेतत् ॥२१॥
श्रीपादचारुनखजानुसदूरुयुग्म-
नेत्रं नितम्बत्रलिनाभिसुहस्तवक्षः ॥
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठसुनासिकाक्षि-
भ्रूभालकुन्तलमहो जिनपुंगवस्य ॥२२॥
पदादिदोरन्तिमवेष्टिता सद्वल्ली महाबाहुबलेर्जिनस्य ।
आकर्षणार्थं वरमोक्षलक्ष्म्या त्यक्ताब्जवल्लीव सदा विभाति ॥२३॥
इत्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभावं श्रुत्वातिहृष्टो नृपराज [च] मल्लः ।
चामुण्डराजोऽपि तथातिहृष्टः सम्यक्त्ववरत्नाकरपूर्णचन्द्रः ॥२४॥
तदा नमस्कृत्य तमेव भूपं सभान्तरालात्स्वगृहं प्रविश्य ।
तद्वृत्तकं मातुरवोचदेतच्छ्रुत्वा तदानन्दवती बभूव ॥२५॥
सुतेन सार्धं वरकालिकाम्बा गत्वा जिनाधीशगृहं त्रिशुद्ध्या ।
स्तुत्वा जिनेन्द्रं स्वगुरोर्गुरुञ्च श्रीसिंहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥
श्रीभूभृद्राज [च] मल्लव्रतगुरुरमलः सत्तपश्शीलजालः
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डबिम्बः ।
प्रोद्यद्वादीभसिंहः सकलगुणनिधिः सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुरनुतचरणः सिंहनन्द्यार्यवर्यः ॥२७॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पश्चात्साजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्यापत्यसुबुद्धिचार्धिशशिनं श्रीनन्दिसंघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिपांघ्र्यं भोजरोलंबकम्
चानम्याप्रवदत्[1] सुपौदनपुरीश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥२८॥
तच्छ्रीबाहुबलीशचारुतरसद्बिम्बस्य संदर्शनम्
नो कृत्वा न पिबाम्यहं पय इति क्षीरव्रतं धारयेत् [धारये] ।
तद्योगीन्द्रपदाम्बुजातनिकटे चामुण्डभूपाग्रणीः
तत्क्षीरव्रतमप्यसौ गुणमणिः संधारयेत् [सोऽधारयत्] भक्तितः ॥२९॥
पुनर्नमस्कृत्य मुनीन्द्रपादं श्रीराज [च] मल्लं प्रतिगम्य भूपम् ।
मनोगतार्थं स बभाण तस्य प्रयाणयत्नश्च चकार रागात् ॥३०॥
श्रीसैद्धान्तिकचक्रिणा मुनिवरश्रीनेमिचन्द्रेण त-
च्छिष्याग्रेसरयोगिभिर्बुधजनैः सार्धं जनन्या सह ।
हस्तिव्रातरथाश्वपत्तिनिकरैः साकं प्रतस्थे शुभे [शुचौ]
लग्ने वाद्यरवावृते दिशि पुरा चामुण्डपृथ्वीश्वरः ॥३१॥
मार्गे मार्गे यत्र यत्र प्रवासं चक्रे राजा तत्र तत्रार्हदीयम् ।
कृत्वा कृत्वा श्रीगृहं पूजयित्वा सेनाव्यूहं धन्यवन्तं चकार ॥३२॥
उत्तराभिगमनं विरचय्यागत्य केचिदपि [किंचिदपि] योजनमात्रम् ।
विंध्यशैलमपि सोऽपि ददर्श क्ष्मारमासुकरकन्दुकसाम्यम् ॥३३॥
तच्छैलसानुनिकटे ललिताख्यचारुपद्माकरस्तदचलप्रभुदर्पणाभः ।
आभात्यसौ तदवनीधरपार्श्वदेशे सेनाव्रजश्च निवसेत् [क्षितिपाग्रगण्यः] ॥३४॥
हस्वाद्रिस्तदवनिभृत्कुबेरकाष्ठायां तद्भरशिखरेऽस्ति जैनवासः ।
इत्येवं नृपतिशिखामणेरवोचत्कश्चित्किङ्कर उदधेर्गभीरकस्य ॥३५॥
श्रुत्वा तदा जिनगृहं प्रतिगम्य भक्त्या स्तुत्वा जिनेन्द्रवरबिम्बमधात्ववन्द्यम् ।
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह भूमिपालो निद्रां चकार निशि तद्गृहमण्डपेऽसौ ॥३६॥
कूष्माण्डी तन्मुनीशस्य च तदवनीपालस्य तस्याम्बिकायाः
स्वप्ने चातुर्थयामेऽभणदतिकठिनो मार्ग इत्यग्र (?) गन्तुम् ।

---

१ पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेणेति व्यवहारः ।
२ अत्र परोक्षकालत्वमपेक्ष्यते ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शैलेऽस्मिन्नावणेशेन विकृतभुजबल्युद्धबिम्बं प्रसन्ने
त्वं [त्वद्] भक्तिप्रेरितैः काञ्चनमयविशिखैर्जायते तेऽद्य भूप ॥३७॥
दृष्ट्वा शुभस्वप्नमपि क्षितीशः सुप्रातरुत्थाय जिनं प्रणम्य ।
गुरुञ्च नत्वा जननीं प्रवंद्य स्वप्नं ददर्शेति बभाण दिव्यम् ॥३८॥
तद्वत्सुस्वप्नमावाभ्यां दृष्टं तत्फलकारणम् ।
यत्नं कुरु नृपालेति बभाण मुनिपुंगवः ॥३९॥

[1]
स्नात्वालंकारयित्वा मुनिपतिनिकटे चोपवासञ्च कृत्वा
दाक्षिण्याशाननः सन् समपदयुगलः कार्मुकात् स्वर्णबाणान् ।
सद्भक्त्यैकैककाले प्रकिरति सति संघट्टनाच्छैलमध्ये
त्रैलोक्याश्चर्यमानं भुजबलिजिनपं संददर्श क्षितीन्द्रः ॥४०॥
चामुण्डराजनृपतेश्च तदम्बिकाया भक्तेश्च पौदनपुरस्थितगुम्मटेशः ।
एतद्गिरीन्द्रलसदग्रमहाशिलायां प्रत्यक्षवानिव विभाति जिनेश्वरोऽसौ ॥४१॥
फणिगणमुखनिःश्वासस्फुरद्धूमलेखाफणमणिगणदीप्तिस्तोमनीराजनञ्च ।
परिवृतवरवल्लीसत्कराभ्यां शतेन्द्रप्रणुतभुजबलीशस्याद्रिराजः करोति ॥४२॥
द्विःपञ्चतालसमलक्षणपूर्णगात्रो विंशच्छरासनसमोन्नतभासमूर्त्तिः ।
सन्माधवीव्रत [ति] नागलसत्सुकायः सद्यः प्रसन्न इति बाहुबली बभूव ॥४३॥
अष्टाधिक्यसहस्रकुम्भनिभृतैः सन्मन्त्रपूतात्मकैः
कर्पूरोत्तमकुंकुमादिविलसद्गंधच्छटामिश्रितैः ।
गंगाद्युद्धजलैरशेषकलिलोत्सन्तापविच्छेदकैः
श्रीमद्दोर्बलिमस्तकाभिषवणं चक्रे नृपाग्रेसरः ॥४४॥
पीयूषवत्साधुकरैरनिंद्यैश्चोच्चोद्भवैः सारतरैर्जलौघैः ।
श्रीगुम्मटाधीश्वरमस्तकाग्रे स्नानं चकार क्षितिपाग्रगण्यः ॥४५॥
नालिकेरकुसुमावृतमूर्त्तिर्भासमानवरबाहुबलीशः
माधवीविलसदुद्गममालाच्छन्नकल्पविटपीव विभाति ॥४६॥
सौरभ्यसुस्वादुसुपक्वरम्भाफलोत्करैश्चूतरसप्रवाहैः ।
पुण्ड्रेक्षुजम्ब्वादिरसैः सुपूज्यैः शिरोऽभिषेकं जिनपस्य चक्रुः ॥४७॥

---

१ अत्र व्याकरणाशुद्धिः ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सन्तप्तसौरभ्यसुवर्णधारा इव प्रपिंगाभतडित्समूहः ।
इव प्रपूज्याज्यमहाप्रवाहः श्रीगुम्मटेशस्य विभाति शैले ॥४८॥
श्रीमोक्षलक्ष्मीविलसत्कटाक्षविक्षेपलीलामपहास्यमानाम् ।
सत्क्षीरधारामृतोपमानां जिनस्य मूर्ध्नि प्रचकार भूपः ॥४९॥
अदभ्रभास्वच्छरदभ्रशुभ्राजिष्णुसत्सान्द्रदधिप्रपूरैः ।
श्रीबाहुबल्ल्युद्घतरोत्तमांगे स्नानं चकार क्षितिपः सुभक्त्या ॥५०॥
चतुष्कोणकुम्भस्थसद्वारिपूरैश्चतुस्संघमध्ये जिनेन्द्राभिषेकम् ।
चतुस्सागरान्तं सुकीर्त्तिं विकीर्य चतुर्वेदपारंगतोऽखण्डभूपः ॥५१॥
गंधद्रव्यसमन्वितोत्तमलसत्पिष्टातकैर्भासुरैः
लाजाराजिभिरुद्घकुंकुमलसत्कर्पूरसम्मिश्रितैः ।
सद्गंधैः स्नपनं रचय्य[1] [विधाय] विलसत्पुष्पौघवृष्टिं ततः
चक्रे बाहुबलीशमस्तकतटे चामुण्डराजाधिपः ॥५२॥
सलिलसुगंधैः सदक्षतकुसुमैर्वरचरुदीपसुधूपफलौघैः ।
निरुपमभक्त्या व्यकरोत्पूजां भुजबलिजिनपं नृपकुलतिलकः ॥५३॥
सदर्घ्यैः सुशान्तिप्रधाराप्रवाहैः सुपुष्पाञ्जलिक्षेपकैर्दोर्बलीशम् ।
तदा पूजयित्वा नुतिं कारयित्वा[2] सुधन्योऽभवद्भव्यचामुण्डभूपः ॥५४॥
कल्यब्दे (कल्क्यब्दे) षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने मनोज्ञे ।
सौभाग्याख्यानुयोगे मृगशिर (?) भगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेलगुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥५५॥
संतेशेवर-दब्बेघट्ट-नबिलूरबक्काग्रहारानिति
ग्रामान् कग्गेरे-नुग्गिहल्लि-दिड्डगान् कौबेरदिग्वर्तिनः ।
धाराशासनपूर्वकं बेलगुलश्रीगुम्मटेशाय तान्
दत्त्वाश्नाति सदा सुरेन्द्रविभवं चामुण्डभूपालकः ॥५६॥
कणकूर-स्थलबाचिहल्लि-दड्डगान् दोड्डाबलं-कंडगं
वरहोन्नावर-मत्तिघट्टहिरियूर्बेल्लूरु कंभापुरम् ।

१ उपसर्गपूर्वकत्वाभावात् ल्यप् चिन्तनीयः ।
२ अत्र स्वार्थे णिच् ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कलितं प्राग्दिशि वैभवाय विदधे श्रीगुम्मटार्हत्पते-
स्तरणीन्दुस्थिरशासनाच्चरयुतान् चामुण्डपृथ्वीश्वरः ॥५७॥
किक्केरीस्थल-धर्मनिंगल-लसत्कुण्दूरु-सारंगि-ना-
मग्रामान् वरसिन्धघट्ट-पुर-भास्वद्धारतीपत्तनम् ।
याम्यायां दिशि वर्तिं शक्रविनुतश्रीगुम्मटार्हत्पते-
र्नित्यश्रीबलिवैभवाय विदधे चामुण्डभूपाग्रणीः ॥५८॥
कोणनूरस्थलजन्निवारएरेयूर्बागूरुसिद्धापुरम्
सवणूर्दन्नितटाकमाधवपुरं चांभःपतेर्दिग्युतम् ।
धरणीमण्डलचन्द्रसूर्यनिरतश्रीशासनं बेल्गुला-
चलभास्वज्जिनगुम्मटाय विदधे चामुण्डधात्रीश्वरः ॥५९॥
भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिरसिद्धान्तवन्नेमिचन्द्र-
श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशतद्रव्यभूग्रामवर्यान् ।
दत्त्वा श्रीगुम्मटेशोत्सवतररथनित्यार्चनावैभवाय
श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमधुरां संजगाम क्षितीशः ॥६०॥
सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्रः प्रणुतपरमदेशीगणाम्भोधिचन्द्रः
स्याद्वादाम्भोधिचन्द्रः प्रकटितनयनिक्षेपवाराशिचन्द्रः ।
एनश्चक्रौघचन्द्रः परमतकमलव्रातचन्द्रः प्रशस्तो
जीयाद्ज्ञानाब्धिचन्द्रो मुनिपकुलवियच्चन्द्रमा नेमिचन्द्रः ॥६१॥
सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमंथच्चमाभृदोन्मथ्य सं-
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः ।
श्रीमद्गुम्मटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
च्चमाभृश्रीसुरधेनुचिन्तकमणिः श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥६२॥
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह कालिकाम्बया सार्द्धमिन्द्रविभवेन पुरीं निजाञ्च ।
भेरीमृदंगवरपूरितदिक्तटेन चामुण्डराजनृपतिः प्रविशत्[१] प्रमोदात् ॥६३॥
श्रीमान् स्वस्य पतिं प्रणम्य नृपतिं श्रीराज [च][२] मल्लं वदे-
च्छ्रीमत्पौदनपत्तनस्थितमहादेवोऽत्र विन्ध्याचले ।

---

१ अत्र अडागमोऽपेक्ष्यते । २ परोक्षकालमपेक्ष्यते ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

द्वैतीयाख्यकबेल्गुलावनिधरे कूष्माण्डिकारुण्यत-
श्चैत्यैवं जननीस्वभक्तिवशतो मे सुप्रसन्नोऽभवत् ॥६४॥
श्रीमन्नेम्यादिचन्द्रस्य च पदनिकटे गुम्मटेशस्य नित्य-
प्रोन्मासाब्दक्रियायै मुनिसमुदयनित्यान्नदानाय भक्त्या ।
लक्षार्धाधिक्यलक्षप्रचुरतरसुदीनारभूग्रामवर्यान्
ते पुण्यार्थं हि देव त्ववददवनिपालेति चामुण्डभूपः ॥६५॥
भो धन्य मंत्रिन् वद साधु साधु भूयोऽपि वार्तां कुरु भूमिदानम् ।
नृपोऽवदज्जैनसुवैभवाय रायाभिधानश्च तवास्तु भूमौ ॥६६॥
श्रीगुम्मटेशचरणाम्बुजमत्तभृंगौ चामुण्डरायनृपशेखरराज [च] मल्लौ ।
भूमण्डलं त्वनुदिनं प्रतिपालयन्तौ सन्तौ च चारकुरु[चारुतर]कीर्तिलसत्प्रतापौ ॥६७॥
बल्लालक्षितिपस्य पूर्वभवसम्बन्धैरिह व्यन्तरै-
स्तं भूपं कबलायितुं घनतरं धूमस्फुलिङ्गं बिलम् ।
तत्सिंहासनभूतले सति कृते मिथ्याजनैर्भाषितम्
मेषादिव्रजरक्तमांसबलिना व्यापूर्यते तद्बिलम् ॥६८॥
हिंसाकृत्यं विशृण्वन् नरपतिरहह श्रोत्रयुग्मं कराभ्या-
माच्छाद्योवाच धर्मान्नहि भुवनतले वस्तु विघ्नापहारम् ।
तस्माद्धर्माभिवृद्धिर्मुनिजनवचनात्स्यात्तदा सर्वविघ्नान्
हन्त्येवं चिन्तयन् सन् निजपरमगुरुः पण्डितार्यः शरण्यः ॥६९॥
श्रीचारुकीर्तिप्रचुराभिधानश्रीपण्डिताख्यार्यपदाब्जयुग्मम् ।
प्रणम्य चानर्च्य जलादिभिश्च बल्लालभूपः प्रमुदा सुभक्त्या ॥७०॥
कार्यदक्षकर्मकार्यमेरुधैर्यवार्धिगांभीर्यकन्तुशौर्यहार्यदोर्युगप्रभावक ।
आर्यवन्द्यदुर्मदापहार्यवीर्यपण्डितार्यवर्य भव्यपद्मसूर्य पाहि मां सदा ॥७१॥
इत्यनेकगुणस्तोत्रैः स्तुत्वा नत्वा पुनः पुनः ।
प्राणापहारविघ्नाच्च रक्ष मां मुनिपुङ्गव ॥७२॥
योगीन्द्रः पादपीठाननृपमुकुटे सद्दयामूलचिह्नम्
पिञ्छं विन्यस्य तेऽस्तु प्रवरतरसुखावाप्तिसद्धर्मवृद्धिः ।
इष्टार्थास्सन्तु दुष्टग्रहसमुदितपीडाः प्रणाशं प्रयान्तु
श्रेयोलाभोऽपि भूयादिति मृदुतरगंभीरवाक्यैरुवाच ॥७३॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इत्याशीर्वचनामृतं मुनिगणाधीशास्यचन्द्रोद्भवम्
श्रीभास्वत्सुमनस्सुसेव्यमनघं शाश्वत्तमोभञ्जनम् ।
विघ्नोद्दामनिदाघसूर्यकिरणज्वालाकलापार्तितो-
बल्लालावनिभृच्चकोरविहगः पीत्वातिहृष्टोऽभवत् ॥७४॥
सर्वज्ञोदितदिव्यमन्त्रनिकरैर्बीजाक्षराकल्पकैः
कूष्माण्डानभिमन्त्र्य भीकरतरं बल्लालभूभृत्पतेः ।
आस्थानस्य वृहद्बिलं ग्रहकृतं व्यापूरयित्वा स्थितम्
तन्मध्ये हरिविष्टरं विरचयित्वाचार्यवर्यैरहो ॥७५॥
अंगवंगकलिंगमालवतौलवान्ध्रमहीशकैः
लाटखोटवराटमागधकुन्तलावनिपालकैः ।
सार्धमेव नृपालवंशललामको नरपालक-
श्चारुकीर्तिमुनिं प्रणम्य कृतार्थतामुपयात्यलम् ॥७६॥
श्रीमत्पण्डितदेवयोगिवृषभं प्राहुः सभापण्डिताः
शब्दे शेषसमः सुतर्कनिकरे स्कंदश्च वेदे विधिः ।
वाग्मित्वेऽपि शचीपतिः सुकविताशास्त्रेऽपि सद्भार्गवो-
वादित्वे गमके गुरुः सुरमुनिः साहित्यके शंकरः ॥७७॥
सिद्धान्तोक्तसुमंत्रतंत्रवरयंत्रोद्धारसामर्थ्यके
ज्योतिर्भेषजकल्पशिल्पभरतच्छन्दोऽङ्गसच्छास्त्रके ।
काव्यालङ्कृतिकामनाटकसुसंगीताभिधानादिके
त्वं सर्वज्ञ इति ब्रुवन्ति विबुधाः श्रीचारुकीर्तिव्रतिन् ॥७८॥
माद्यद्वैदिकबौद्धवैष्णवमहाचार्वाकमीमांसकैः
गर्जद्गौतमयौगपाशुपतिकप्रोद्भाट्टनैयायिकैः ।
इत्याद्युद्धतसर्ववादिनिकरैः श्रीपण्डिताचार्यको-
बल्लालस्य सभान्तरे जयमहावादीति संकीर्तितः ॥७९॥
दुष्टव्यन्तरकृत्रिमज्वरभयातंकातिदुर्भिक्षका-
द्युत्पातैर्वरषण्मतोद्भवजने नाशं गतेऽसौ मुनिः ।

उपसर्गयोगादत्र क्त्वा चिन्त्यः ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तच्छान्तिं रचयन्नरत्नदमुना षड्दर्शनस्थापना-
चार्यत्वं च परस्य नैव तव [भोः] शास्तास्त्यतः षण्मते ॥८०॥
मूलसंघवक्रगच्छकुन्दकुन्दवंशवा-
राशिवर्धमानचन्द्र तावते जनालये ।
अस्त्विति प्रभाषितं नृपेण भक्तितश्च ब-
ल्लालजीवरत्नपालकप्रशस्तिता भुवि ॥८१॥
स्वस्तिश्रीमूलसंघांबरगगनमणिः पुस्तकोत्तुंगगच्छ-
प्रख्यातः कुन्दकुन्दान्वयवनधिविधुः षण्मतस्थापनार्यः ।
श्रीमद्देशीगणेशः सकलविबुधचक्रेश्वरः सुप्रसिद्धो-
जीयात् स्याद्वादविद्याविभवपरिणतः पण्डिताचार्यवर्यः॥८२॥
बल्लालक्षितिपालजीववररत्नापालकाद्यङ्कमा-
लावर्णाङ्कितसर्वपाठकलसज्जिह्वाशिलाशासनः ।
श्रीमद्रायसुराजमुख्यगुरुराड्भूमण्डलाचार्यकः
पायात्पण्डितनामधेयविधृतः श्रीचारुकीर्तिव्रती ॥८३॥
श्रीमत्स्याद्वादविद्याविलसितविजितोदारदुर्वारगर्व-
क्षुभ्यद्वादीन्द्रमत्तद्विरदसमुदयः सर्वशास्त्रप्रवीणः ।
जीयादाचन्द्रतारं सुगुणगणलसद्राज [च] मल्लप्रजेश-
प्रत्यग्रोदग्रमौलिप्रतिफलितपदः पण्डिताचार्यवर्यः ॥८४॥
शान्तिग्रामविभासबूकनतटाकच्छत्रकुन्दूरिति
ग्रामान्द्व्यष्टसहस्रनिष्कजनितान् धाराशिलाशासनान् ।
बल्लालक्षितिपालको बेलुगुलश्रीगुम्मटार्हत्पतेः
नित्याब्दोत्सववैभवाय विदधे श्रीपण्डितार्यान्तिके ॥८५॥
घूर्णज्जैनमताब्धिजातविधुवच्छ्रीनंदिसंघोऽभवत्
सुज्ञानार्थितपोधनाः कुवलयानन्दामयूखा इव ।
तत्संघे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति
श्रीदेशीयगुरुर्द्वितीयविलसन्नामा बुधैः कथ्यते ॥८६॥
श्रीदेशीयगणामृताब्धिजनिता ज्ञानप्रभामण्डिताः
निर्दोषामरमुख्यरत्ननिकराः स्वच्छान्तरानर्घ्यकाः ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तर्कज्योतिषमंत्रवादगणितालङ्कारशब्दागम-
वृन्दो वैद्यनिघंटुनाटकमहाशास्त्राणि चक्रुर्भुवि ॥८७॥
श्रीचम्पापुरसुप्रसिद्धविलसत्सिंहासनाधीश्वरो
भास्वत्पंचसहस्र [शुभ्र] मुनितारासंकुलैरावृतः ।
श्रीदेशीगणवार्द्धिवर्धनकरो भव्यालिहृत्कैरवा-
नन्दो भाति सुधीरनन्दिमुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रातपैः ॥८८॥
श्रीमद्देशीगणांभोनिधितुहिनकरः पाणिनेः सूत्रवृत्तिम्
तत्वार्थाख्यानसूत्रस्य च निरुपमसट्टिप्पणं सर्वशास्त्रम् ।
कृत्वा श्रीपादलेपौषधकृतगतिना प्राग्विदेहं प्रयातो-
पश्यत्तीर्थंकरांघ्रिं निरुपमचरितो पूज्यपादव्रतीन्द्रः ॥८९॥
श्रीनन्दिसंघवरपुस्तकगच्छकुन्दकुन्दान्वयाम्बुधिसुवर्द्धनपूर्णचन्द्रः ।
वादीभकुम्भदलनोग्रपटिष्ठसिंहश्रीप्रादिराजमुनिपो भुवि राजतेऽसौ ॥९०॥
कुन्दकुन्दकुलचारुललामो नन्दिसंघसलिलाकरचन्द्रः ।
वक्रगच्छवनजातदिनेशो वर्धमानमुनिपश्च विभाति ॥९१॥
कुन्दकुन्दवंशवार्धिपूर्णचन्द्रचारुदे-
शीगणाभ्रसूर्यवक्रगच्छहर्म्यशेखर ।
नन्दिसंघपद्मषण्डराजहंस भूतले
त्वं जयात्र हेमसेन पण्डितार्य सन्मुने ॥९२॥
महेन्द्रचन्द्रपण्डिताः शुभादिकीर्तिपण्डितो-
जिनेन्द्रचन्द्रपण्डितः त्रिरत्नपण्डितो मुनिः ॥९४॥
यशस्सुकीर्तिपण्डितस्सुवासनेन्दुपण्डित-
स्सुचन्द्रनन्दिपण्डितस्सुबाहुपण्डितो यतिः ॥९४॥
नृपेन्द्रसेनपण्डितस्सुनन्दिसेनपण्डितो-
महेन्द्रसेनपण्डितस्सुधर्मसेनपण्डितः ॥९५॥
श्रीदेशीगणपालको बुधनुतः श्रीनन्दिसंघेश्वरः
श्रीशब्दागमतर्कवार्धिहिमगुः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः ।
श्रीचामुण्डनृपालपूजितलसच्छ्रीपादपद्मद्वयो-
जीयात्सोऽजितसेनपण्डितमुनिः श्रीवक्रगच्छाधिपः ॥९६॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तच्छिष्योऽजितसेनसन्मुनिरभूच्चामुण्डभूपस्य पा-
रंपर्यागतसद्गुरुस्तदवनीपालश्चतुर्विंशतिम् ।
तीर्थाधीशपुराणरत्नमकरोत्साहित्यरत्नाकरः
श्रीविन्ध्याचलगुम्मटेशनिकटे सम्यक्त्वचूडामणिः ॥९७॥
बेलगुलगिरिमूर्ध्निप्रज्वलद्गुम्मटेशः
प्रणुतपरमदेवः पण्डिताचार्यवर्यः ।
परमगुरुरमुष्य प्रौढचामुण्डराजः
परमसुकृत [युक्तः] स्यादसौ सान्द्रकीर्तिः ॥९८॥
बेलगुलभूधराग्रपरिशोभितपद्मसुपीठकर्णिकोज्ज्वलदमलांघ्रियुग्म-
नखरालिमरीचिसुधांशुमण्डलः । प्रलयविदूरसारसुखसागरमारम-
देभसिंहनिश्चलजयसर्वभव्यकमलावलिभास्करगुम्मटेश्वरः ॥९९॥
श्रीभरताख्यचक्रधरपूजितपादयुगः कृते युगे रावणराजपूजित-
पदाब्जयुगश्च युगे द्वितीयके द्वापरके च पाण्डवसुपूजितपाद-
युगः कलौ तु चामुण्डनृपालपूजितपदोऽवतु बेल्गुलगोम्मटेश्वरः ॥१००॥
इमां बेल्गुले गुम्मटेशप्रशस्ताम्
कथां ये विशृण्वन्ति ते मानवाश्च ।
सुनैश्रेयसं सौख्यमश्नन्ति भद्रम्
शुभं मंगलं त्वस्तु चास्याः कथायाः ॥१०१॥
आदिब्रह्मविनिर्मितामलमहावंशाब्धिचन्द्रायमा-
नात्रेयोद्भवविप्रगोत्रतिलकः श्रीजैनविप्रोत्तमः ।
दोड्डय्यः सुगुणाकरोऽस्ति पिरिराजाख्यानसत्पत्तने
तेनासौ जिनगोम्मटेशचरितं भक्त्या मुदा निर्मितम् ॥१०२॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०—वि० सं० २०००, वीर० सं० २४७०

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

		पृष्ठ सं०
१	उपाध्याय मेघविजय के दो नवीन ग्रन्थ—[ले० श्रीयुत अगरचन्द, नाहटा ...	७०
२	क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है ? —[ले० श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए; एल-एल० बी० ...	८९
३	खगेन्द्रमणिदर्पण—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	१८
४	चन्देरी—[ले० श्रीयुत दे० स० त्रिवेद, एम० ए०	१०५
५	जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्री कल्याणविजयजी—[ले० श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस० ...	७३
६	जैन-सिद्धान्त-भवन के कार्यों का सिंहावलोकन—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण	९५
७	जैन कविताओं में ऐतिहासिक प्रसंग—[ले० श्रीयुत कालीपदमित्र, एम० ए० ...	२५
८	जैनियों की दृष्टि में विक्रमादित्य—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रौफेसर श्रीयुत देवसहाय, त्रिवेद, एम० ए० ...	३७
९	जैन-सिद्धान्त-भवन का वार्षिक विवरण—[मन्त्री]	४८
१०	तुलु देश में जैनधर्म—[ले० श्रीयुत डा० बी० ए० सालेतोर एम० ए०, पी०-एच० डी०	२१
११	देशीराज द्वारा जैनधर्म की सहायता—[ले० श्रीयुत बनारसी प्रसाद भोजपुरी, सा० रत्न, रचनानिधि	६७
१२	'नीतिवाक्यामृत' आदि के रचयिता श्रीसोमदेवसूरि—[ले० श्रीयुत डा० वी० राघवन, एम० ए०, पी-एच० डी०	१०१
१३	पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'—[ले० श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे ...	९
१४	पूर्व और पश्चिम में दर्शन की धारणा—[ले० श्रीयुत देवराज, एम० ए०, डी० फिल०	३४
१५	भगवान् महावीर की जन्मभूमि—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण	६०
१६	विजयनगर के जैन शिलालेख—[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०	१
१७	सुकौशलचरित—ले० श्रीयुत रामजी उपाध्याय, एम० ए०	५५
१८	समीक्षा—	
	(ख) अर्द्धकथा—देवसहाय, त्रिवेद एम० ए०	४४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पृष्ठ सं०

(क) आदर्श महिला पं० चन्दाबाई—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य १०९
(ग) जैनसाहित्य और इतिहास—हरनाथ द्विवेदी, काव्यपुराणतीर्थ ... ११०
(घ) तिलोय-पण्णत्ती [त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति]—नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री न्यायज्योतिषतीर्थ १०६
(ङ) धर्म का आदि प्रवर्त्तक—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ ४५
(च) पावन प्रवाह—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ] ४६
(छ) पूर्वपुराणं—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १०८
(ज) भारतीय दर्शन—देवराज एम० ए०; डी० फिल० ... ... ४३
(झ) वर्द्धमानपुराण—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, साहित्यरत्न ... ४७
(ञ) शान्त-शृङ्गार-विलास—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ ४६

परिशिष्ट

भुजबलिचरितम्—दोड्डय, सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. DECEMBER 1943 No. II

Edited by
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs. 3. Foreign 4*s.* 8*d.* Single Copy Rs. 1-8

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

		Pages.
1.	On the Latest Progress of Jaina and Buddhistic Studies —By Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt. ...	47
2.	Some Jaina Gurus in Kannaḍa Inscriptions—By S. Srikaṇtha Sastri, M. A.	61
3.	The Contribution of Jainism to World Culture—By A. Chakravarati	76
4.	Editorial Note—By K. P. Jain	88
5.	The Genealogy of Maṇḍana, the Jaina Prime Minister of Hoshang Ghori of Malwa-Between A. D. 1405 and 1432—By P. K. Gode, M. A.	91
6.	Review	95

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om

The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol. IX
No. II

ARRAH (INDIA)

December,
1943

ON THE LATEST PROGRESS OF JAINA AND BUDDHISTIC STUDIES[1]

By

Dr. A. N. Upadhye

There was a time when the Jaina texts were not easily accessible; and naturally the writers on Indian philosophy had to satisfy their thirst for a review of Jaina philosophy from the Pūrvapakṣa given in non-Jaina works. Apparently this method has its defects, and we have to correct and clarify our notions in the light of the Jaina texts themselves. The atomic theory in the early Jaina texts, the relation between Jainism and Sāṁkhya, Jaina epistemology and other topics are touched upon here and there; but detailed investigations are still to be carried out. That the Jaina texts supply interesting details in the study of different branches of Indian philosophy is abundantly clear from the discussions of Prof. J. Sinh (Indian Psychology: Perception, London 1934). It is necessary that

1. This forms the concluding portion of the Address delivered by Prof. A.N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardha-māgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December 1941.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the material from the canon and the works of Akalaṅka etc. should be thoroughly analysed. Some articles have appeared on these topics lately; Jaina theory of knowledge and Error etc., by Prof. Bhattacharya (Jaina A. IV. i, also V p. 21 ff.); Mind in Jaina Philosophy by Prof. S. C. Ghoshal (Ibidem V, p. 75 ff.); etc.

Winternitz's outline of Jaina literature in his History of Indian Literature, Vol. II, and Schubring's survey of the Jaina doctrines in his Die Lehre der Jainas are phenomenal landmarks in the progress of Jaina studies. It was very unfortunate that Winternitz did not live to revise his third volume; and his last contribution on the subject was 'The Jainas in Indian Literature' in the IC, I, ii. Such works are to be compiled after extensive studies by specialists in different topics of the field; but here, thanks to the insight and industry of these two veteran Indologists, these monumental works are composed much earlier than expected. These are excellent guides for all further study ; but by these we should not understand that the survey of the field is over and that very little remains to be done now. In one of his letters (Dated Nov. 19, 1935) the late lamented Dr. Winternitz himself wrote to me thus: "You are perfectly right in saying in your Preface that my account of Jaina literature in my History of Indian Literature, Vol. II, only 'shows how much more remains to be done'. In fact, I have made it throughout a point in my 'History' to draw special attention to the—alas, so numerous—unsolved problems and open questions in the history of Indian literature, which are left to be struggled with and if possible solved by those who come after me." This is equally true, though to a less extent, with regard to Schubring's work in the Grundriss. These savants were concerned more with an outlinear survey than with the detailed study of individual texts, the latter being still an urgent desideratum in Jaina literature. Bits of new information about various authors and works are coming to light in various Journals and in the Descriptive catalogues published in the G. O. S., Baroda and by the B. O. R. I., Poona, in connection with Jaina literature. We cannot afford to remain satisfied all along with those sketchy remarks expressed by Peterson and others on their

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

first discovery of these texts some of which are now published also. We can hardly say that texts like the Yaśastilakacampū are fully studied. Dr. Sen's dissertation on the Praśnavyākaraṇāṅga shows that there is ample scope for an exhaustive study of individual works. This has been approved of by Dr. Schubring and is published after his book. To advance our studies in Jaina literature, the individual works and authors have to be studied critically in the back-ground of Indian literature as a whole. It is on account of the absence of such earlier studies that some sections in the survey of Winternitz read like lists of authors and works. Plenty of Mss. are available (in the case of majority of books) for a text-critic ; and these Sanskrit and Prākrit texts, if studied in detail, unfold new facts which enrich our knowledge of Indian life and culture in their manifold aspects.

In the last ten years many important works connected with our section have seen the light of day ; and many eminent editors are working with the avowed aim of advancing the studies. We might note here passingly a few important publications of the last two or three years. Herr Kohl's Die Sūryaprajñapti (Stuttgart 1937), besides presenting to us the text of this much neglected work of the Ardhamāgadhī canon, brings out the relation between the Sūra-, Jambuddīva— and Caṁda-paṇṇatti. The author postulates the existence of an original gathā-text from which these three works derive themselves. In the light of the outline of Jaina cosmography which Dr. Kirfel has exhaustively given to us, this text may be studied now in comparison with other Jaina cosmographical texts like Tiloyapaṇṇatti (a portion of which has been edited by me, Arrah 1941, and I have a complete ed. with Hindī translation on hand which is in the Press) and Jambūdvīpaprajñaptisaṁgraha (IHQ. XIV, p. 188 ff.). On account of Jacobi's Ausgewählte Erzählungen in Māhārāṣṭrī (Leipzig 1886), which, with Konow's Karpūramañjarī, formed the first lessons in Prākrit for many Oriental scholars, Devendra's Sukhabodhā commentary, from which Jacobi collected these stories, acquired immortal fame among Prākritists. We are happy that a good edition of this commentary has been made available now (Ahmedabad 1938). These illustrative stories are

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

typically representative of the medieval Jaina narrative literature of which ornate Prākrit specimens are found in standard works like the Samarāïccakahā and Mahāvīracariya.

Muni Śrī Nyāyavijayajī in one of those few gifted monks who can fluently compose original works both in Sanskrit and Prākrit. His Ajjhatta-tattāloo (Jamnagar 1938) fully testifies to his grip over the Prākrit expression, and besides gives a vigorous exposition of the pious ideals of life. With its valuable Introduction and useful indices, Pt. Bechardas's edition of Rāyapaseṇaiyasutta (Ahmedabad Sam. 1994) fairly surpasses the earlier editions. Many Jaina works are known only by their names ; and if a careful search in the Jaina Bhaṇḍāras is made, there is every possibility of tracing some of them. Varāṅgacarita and its author, though often referred to by earlier authors, had fallen into oblivion. But this work has been lately brought to light (Bombay 1938) and also critically studied in the back-ground of Sanskrit literature. Its author Jaṭāsiṁhanandi flourished about the close of the 7th century A. D., and it is one of the early Sanskrit Purāṇic Kāvyas.

Lately some four works (Nos. 41-44) are published by the Jinadattasūri Jñānabhaṇḍāra, Pydhoni, Bombay. The first is the Sāmācāriśatakam which contains Samayasundara's exposition in Sanskrit of one hundred debatable points connected with the mode of life of both monks and house-holders of the Jaina community. The Second is the Kalpalatā commentary on the Kalpasūtra to which Prof. H. D. Velankar has contributed a learned Indtroduction in English giving an important list of commentaries and glosses (with significant details about their authors and age) on the Kalpasūtra. The third is the Gāthāsahasrī of Samayasundara which is an anthology of Sanskrit and Prākrit passages dealing with religious topics. Besides a large number of Jaina texts, a few non-Jaina works like the Mahābhārata, Manusmṛti etc., are also quoted. There is an introduction in Gujarāti by Mr. M. B. Jhaveri; and it gives all that we want to know about the author, his works and the contents of the present text. The fourth publication is the Vidhimārgaprapā which presents an able exposition of the duties of laymen and monks especially as

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

accepted by the Kharataragaccha. It contains a good deal of useful information for a student of Jaina literature. Various discussions, mostly in simple Prākrit prose with occasional quotations from canonical texts, clearly indicate Jinaprabhasūri's depth of learning and facility of expression. The text is very well edited by Śrī Jinavijayajī who has spared no pains in making the edition worthy of its author. The editorial introduction gives a summary of the contents; and Śrī Nahatas have added a detailed biography of Jinaprabhasūri who was not only a deep scholar but also an outstanding personality that weilded good deal of influence on Muhammad Tughluq. Recently Prof. N. V. Vaidya has given to us the entire text of Nāyādhammakahāo (Poona 1940) with variant readings in a handy volume.

Among the latest Pāli and Buddhist publications mention may be made of the Paramatthadīpanī of Dhammapāla on the Cariyāpiṭaka edited by D. L. Barua (PTS, London 1939); Saddhammapajjotikā of Upatissa on the Mahāniddesa, Vol. II, edited by A P. Buddhadatta (PTS, London 1939); Manorathapūraṇī, on the Aṅguttaranikāya, Vol. 4, ed. by H. Kopp (PTS, London 1940); and Paramatthadīpanī, on the Theragāthā-Aṭṭhakathā, ed by F. L. Woodward, Vol. I. (PTS, Londan 1940). With regard to Mahāyāna and Sanskrit texts we have lately La Somme du Grand Vehicle d' Asanga by Etienne Lammotte (Louvain 1939) which is a remarkable contribution to our knowledge of Mahāyāna Buddhism; Bruchstucke des Āṭānāṭikasūtra aus dem Zentralascachen Sanskrit-Kanon der Buddhisten by H. Hoffman (Leipzig 1339); and Gilgit Manuscripts, Buddhist Sk. Texts, Vol. I, by N. Dutt, Srinagara 1939. As to the translations and other accessories of study we have lately the English translation of Buddhavaṁsa and Cariyāpiṭaka by Dr B. C. Law in The Minor Anthologies of Pāli canon (Sacred Books of the Buddhists, No. 9 pt. 3, London 1938), and so also 'Manual of Buddhist Historical Tradition (Saddhammasaṁgraha)' by the same author (Calcutta 1941).

Thr Roman script has decided advantages in reproducing Indo-Aryan words in grammatical and linguistic discussions. But for an

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

average Indian student, the Sanskrit or Prākrit texts, printed in continuous roman characters, present a good deal of difficulty for study. Naturally many of our students feel the need of Devanāgarī editions of Pāli works published by the PTS. The University of Bombay has already started a Devanāgarī Pāli Text Series in which Milindapañho (Bombay 1940) is lately brought forth by Prof. R. D. Vadekar. As the first volume of the newly started Bhandarkar Oriental Series Prof. R. D. Vadekar has edited in Devanāgarī the Pātimokkha (Poona 1939); and the second volume is represented by the sumptuous Devanāgarī edition of the Dhammasaṅgaṇi (Poona 1940) by Dr. P. V. Bapat and Prof. Vadekar.

It was exactly ten years back that the Siṅghī Jaina Series was started through the enlightened liberality of Babu Bahaddur Singhji Singhi of Calcutta and the scholarly forethought of Śrī Jinavijayaji. Within this short period of a decade, a dozen sumptuous volumes have been published and nearly an equal number of important works is under preparation: this success of the Mālā is remarkable and unique. Śrī Jinavijayaji is a gifted editor of great experience; and under his general editorship these volumes are prepared to fulfil the needs of critical scholarship; and they meet a real want of Indology. Some of them are fresh additions to the published stock of Indian literature. Among the latest publications of the Mālā, I have already referred to the Nyāya works like the Akalaṅka-granthatrayam etc. above. The Prabhāvaka-carita of Prabhācandra is a store-house of traditional information about some of the eminent Jaina authors, and its composition too is characterised by some literary flavour. The text is critically edited by Śri Jinavijaya himself; and this edition far surpasses the earlier edition (Bombay 1909) with regard to the authenticity and the presentation of the text. The four volumes of the Singhi Jain Series, Prabandhacintāmaṇi, Prabandhakośa, Vividhatīrtha-kalpa and Prabhāvaka-carita, present a thesaurus of Jaina tradition carefully and earnestly collected by ancient teachers; and now it is for the critical historian to sort out solid facts and co-ordinate them with corresponding events known from other sources. The latest publication in the Series is the Bhānucandracarita of Siddhicandra. It is an unique work in Sanskrit literature. It is not

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

only a biography of the teacher Bhānucandra but also an autobiography of the pupil Siddhicandra. Quite vividly he narrates "how he became an object of Akbar's filial love, how he stood by the side of his Guru as his co-worker in rendering social services, how he enjoyed the favour of Jahangira and afterwards fell a victim to his displeasure and finally how he passed through the ordeal for the sake of his vows and religion without being scared away by exile, imprisonment or death." Dalal, Smith and others had already touched the topic of the Jaina teachers at the court of Akbar. The exhaustive Introduction of this volume, however, completely supersedes earlier discussions. Mr. M. D. Desai, with his usual indefatigable energy and rare erudition, has contributed a solid Introduction in which he has systematically collected a vast range of information that fully depicts the position of Bhānucandra and others in the Mughul court and their literary activities. The discussion is so well planned that it serves as a good back-ground for the history of Jainism under the two great Mughuls. The Praśastis, Farmans and the Appendices have a great documentary value. The Bhānucandracarita with its learned Introduction of Mr. M. D. Desai is a distinct addition to the historical chronicles of Sanskrit literature.

Despite the financial difficulties, the Māṇikchandra D. Jaina Granthamālā has lately published Nyāyakumudacandra I-II and Mahāpurāṇa I-III which have been already referred to. The Ātmānanda Sabhā has issued the Vols. 4 and 5. of the Bṛhatkalpasūtra edited by Śri Chaturavijaya and Punyavijaya. The Jaina Sāstramālā Kāryālaya, Lahore, has published some of the canonical texts like the Daśāśrutaskandha, Uttarādhyayana etc. with Sankrit chāyā, word-for-word meaning, mūlārtha etc. in Hindi in luxurious volumes. These may be useful in popularising the canon among the Hindi-knowing readers, but we would request the editors that the text could be presented more carefully and the interpretations could be offered more critically taking into account the earlier studies. The Āvaśyakaniryukti-dīpikā of Māṇikyasūri is lately published from Bhavanagar. The Jaina-grantha-prakāśa-sabhā of Ahmedabad is issuing in an uniform size all the works of Haribhadra; the first volume (Ahmedabad 1939) is already out and contains eleven texts

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Yogadṛṣṭisamuccaya etc. The newly started Jīvarāja Jaina Granthamālā has undertaken an edition of Tiloyapaṇṇatti with Hindi paraphrase.

The Sacred Books of the Jainas, the latest and the tenth volume of which is the Gommaṭasāra Karmakāṇḍa with English translation, part 2, (Lucknow 1937), was conceived by the late lamented D. P. Jaina and later on well supported by the late lamented J L. Jaini with a view to present the important Jaina texts with English translation. Unluckily the subsequent Volumes have not reached the critical standard of the first volume, Davvasaṁgaha, so able edited by Prof. S. C. Ghoshal. Most of the volumes do not use even diacritical marks for technical terms and names. The Series is soon issuing the Āptaparīkṣā etc. with English translation; and if the organisers want these texts to be used by Oriental scholars for any research, it is necessary that their contents should be presented in an authentic and critical form.

The orientalists would be interested to learn that an Āgamamandira is being built at Palithana through the advice of Śri Sāgarānanda Sūriśvaraji. As far as I know, the plan is to inscribe the text of forty-five canonical works in stone on the walls etc., in this temple. It is also planned that the whole text of the Ardhamāgadhī canon should be inscribed on copper-plates and also printed on paper in an uniform size. This reminds us of Maindum, the king of Burma, who inscribed the entire Tripiṭaka on slabs of stone.

Under the liberal patronage of rich laymen and through the encouragement of zealous monks many Granthamālās, especially in Gujarat, are bringing out many a text. Oriental scholars do appreciate their piety and zeal, but at the same time the organisers of the Mālās are to be requested that duplication of works should be avoided as far as possible. It is better that the major portion of the zeal should be diverted towards editing and publishing unpublished works. Some of these editions, may it be noted, have not reached our critical standards; but as first editions of unpublished texts, whose Mss. are not always within our easy reach, they are to be welcomed like the Sanskrit texts published in the Kāvyamālā etc.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Students of oriental learning can make the best use of these editions, how-so-ever imperfect they might be, by studying their contents in comparison with those of similar works already known to us. They contain fresh material which is not duly sorted and no definite positions are assigned to these texts in our scheme of Indian literature.

The Jaina literature is found in various languages of India, both Āryan and Dravidian; the material lies scattered over different parts of the country; and to day the results of researches are being published in various languages, both Indian and European. It is necessary for an active scholar to keep himself in touch with all that is being written on the subject, irrespective of the languages; it is a difficult task but it has to be faced. We cannot ignore the valuable fresh material that is being brought to light say in magazines like Anekānta, Nāgarī-pracāriṇī Patrikā, Kannaḍa Sāhitya-pariṣat Patrike etc. It is necessary, therefore, that some scholars who are better equipped with the knowledge of more than one language should write Reviews of such articles and books, either in English or Hindī, so that these topics might fall within an all-India access. Books after books, some of them published for the first time, are coming out in different parts of the country; but unluckily there is no organ or organisation which takes note of all these publications for the benifit of scholars. I would appeal to the Editors of Journals that are more interested in Jaina and Prākritic studies to include notices of such publications in their Journals. Forthcoming publications may also be included to avoid duplication of work. If the Journals make a beginning, I do believe that Editors and publishers, in their own interest, would co-operate with them. Thus alone the Jaina and Prākritic studies can march on in the ranks of Oriental learning.

We have many biographies of Buddha in different languages, but as yet no exhaustive attempt is made to pool together various bits of information scattered over the wide range of Buddhist and Jaina literature and to give an authentic and detailed biography of Mahāvīra. The latest brochure is that of Dr. B. C. Law. It gives me great pleasure to note that Muni Kalyanavijayaji, with whose masterly monograph on the Jaina chronology we are already acquainted

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(Nāgarī-pracāriṇī-patrikā, Vols. X & XI), has written a comprehensive biography of Mahāvīra in Hindi and it would be published in the next few months. Lately Pt. Nathuram Premi, who has been a pioneer researcher, along with Pt. Jugalkishore, in the chronology of especially Digambara works, has put together his studies in a revised form; and his Hindi book, Jaina Sāhitya aura Itihāsa, is a rich mine of information and references.

Buddhism is the professed religion of many countries in the East; naturally the Orientalist has to study Buddhism both in India and outside. The adventures of the spread of Buddhism not only in different parts of India but also of the whole globe are one of the most fascinating branches of Indological study; and the Greater India Society has done much useful work in this respect. Lately some studies are conducted both by way of fresh exploration and survey. Space prohibits me from summarising the results in details, so I would just list the important papers. Expansion of Buddhism in India and Abroad (NIA, II. 11, III. 1) by Dr. B. C. Law is a good account of the spread of Buddhism. The influence of Buddhism on Japanese culture is discussed by R. Sandilyan (Young East, Vol. 8, No. 2). Buddhist influence in Gujarat and Kathiawar is reviewed by Mr. A. G. Gadre (Journal of the Gujarat R. Society, Vol. I. No. 4). Jainism on the other hand is mostly confined to India, but no systematic and exhaustive attempt is made to survey its history in different parts of the country excepting perhaps Karnāṭaka and Gujarata. The material being scattered all over India and in different languages of different ages, it is necessary that specialised monographs should be prepared first, according to the locality and the political or literary period, before an all-India Survey of the Jaina church can be confidently attempted. Lately some scholars have directed their attention to this aspect of study, and a few papers have been published. The Jainas in Pudukottai State by K. R. Venkat Raman (Journal of Oriental R., Madras, XIII, part 1); Jaina Tradition in Telugu by S. Lakshmipathi Shastri (Annals of Oriental R., Madras Vol. IV, part 2); Jaina Religious orders in the Kushan Period by B. N. Puri (Journal of I. History, XX, Part I, Special Number, April, 1941); Jainism under the Muslim Rule by K. P. Jain (NIA I. 8);

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

New Studies in South-Indian Jainism by B. S. Rao (Jaina A. V, p. 147 ff,; VI, p. 66 ff.; VII, p. 26 ff.). In this connection I might note that Prof. Hiralal has lately issued his earlier contributions in a book form viz., Jaina Itihāsaki Pūrvapiṭhikā (Bombay 1939).

Both Jainism and Buddhism have been subjected to various divisions in the church: some of them are doctrinal, some are social, and there are others which owe their origin to differences in the ascetic practices. The Jaina Saṁghas, Gaṇas, Gacchas etc., are not fully discussed as yet, though rich material is available in epigraphical and literary records. It is a difficult task, but dispassionate attempts have to be made Lately Mr. K. P. Jain has written an article on the Digambara and Śvetāmbara Sects of Jainism (Kane Volume, p. 228 ff.). Good deal is done in this respect in the field of Buddhism, and we have some latest contributions also; Buddhist Tantric literature of Bengal by S. K. De. (NIA, I, i); Doctrines of the Sammitiya School by N. K. Dutt (IHQ, XV, 1); Lalitavistara and Sarvāstivāda by E. J. Thomas (IHQ, XVI, 2); Dārṣṭantika, Sautrāntika and Sarvāstivādin by J. Przyluski (IHQ, XVI, 2); etc.

Between the Pāli and the Ardhamāgadhī canons, the latter is not extensively studied as yet; and the material for cultural study therein is arousing interest very lately. Prof. K. P. Mitra has very nicely touched various interesting topics such as Crime and Punishment, Magic and Miracle and the reference to Pāṇḍyas in the Jaina literature (IHQ, XV, parts 1-3). Prof. H. R. Kapadia has taken a review of the Jaina system of Education and has drawn upon different branches of Jaina literature (JUB, Vol. VIII, part 4). He is also reviewing the whole canon in his Gujarati Ārhata Āgamonu Avalokana (part 1, Surat 1939). Among the Buddhist works, the Dhammasaṁgaṇī has been studied afresh by Dr. Dutt for a further elucidation of the principal topics and the method of treatment adopted in it (IHQ, XV, part 3). The Brahmacālasūtra of Dighāgama has been translated into German by F. Weller (Woolner Vol., p. 260 ff.). The Jātakas have been a rich material for sociological study. Bhadanta Ananda Kausalyayan has on hand a Hindi translation of the Jātakas, the first volume of which is already out. When

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

completed it would be a first rate addition to the wealth of Hindi literature. Based on Jātakas we have lately the Pre-Buddhist India by R. N. Mehta (Bombay 1939); and Dr. B. C. Law has given some observations on the same (JRAS, April, 1939) Prof. Lüders has contributed a paper on Die Vidyādharas in der buddhistischen Literature and Kunst (ZDMG, 93, part 1); while Dr. Alsdorf has made an equally interesting attempt to elucidate the idea of Vidyādharas and their abode in his article Zur Gechichte der Jaina Kosmographie und Mythologie (ZDMG, 92, parts 2-3, Leipzing 1938).

Asceticism plays an important role in Jainism and Buddhism, and in many respects it is a logical culmination of the highest spiritual and humanitarian principles preached by these religions. Though excellent lines of study are already indicated by Jacobi, Wintermitz and others, the Jaina monachism is as good as not studied at all. The contents of voluminous works like Bhagavatī Ārādhanā and Bṛhat Kalpasūtra are not examined at all with a view to study the practices of Jaina monks and their organisation. The picture of Indian monachism is incomplete, if the material from these sources is not utilised in its proper perspective. Lately Miss D. N. Bhagwat has contributed a good deal of discussion on Buddhist monachism (Early Buddhist Jurisprudence, Poona 1939; Buddhist Monachism and post-Asokan Brāhmī Inscriptions JUB, Vol. IX, part 2; and also Origin of Indian Monachism, JUB, Vol. VIII, part 2). The latest publication, Early Monastic Buddhism, Vol. I (Calcutta 1941) by Dr. N. Dutt, embraces a wider range of topics connected with Buddhism and the history of Buddhist thought.

It is a fact and more than once the scholars have complained that the Jaina community has not much encouraged the critical study of Jaina texts. Jaina community, like other communities in India, is orthodox and still caught in the old moulds of thought. Some of the publications do show that better sense is gradually prevailing and a bright future is visible. Mere publication of the texts is not an end in itself; in fact it is the beginning of study. It has to be accompanied or followed by critical and comparative study of their contents in their various aspects. Even though the Jaina community is

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

indifferent in encouraging critical studies on modern lines, the orientalists cannot ignore their duty of studying the various facets of ancient Indian learning. Some sixty years back the late lamented Dr. H Jacobi, when he visited Patana (Baroda) with Dr. Buhler, was not allowed to see the books ; but in 1914 he was given access to the famous Bhaṇḍāras ; and to-day, however, many of us are using Mss. and their transcripts from Patana through the courtesy of local authorities and pious monks like Śrī Punyavijayaji It is a great change, and I do expect still greater changes. If orientalists turn more attention to the different branches of Jain literature, many sections of Indian literature would be further enriched, thus adding a respectable dignity to Indian literature in the eye of world literature. The ultimate values which inspired Jinabhadra, Saṅghadāsa, Vīrasena-Jinasena or even Puṣpadanta to put forth their stupendous compositions are still there, but they may not necessarily appeal to us. But the rigorous toil in the field of learning gives a joy of scientific work; and when any positive result is achieved in one's field of study, there is some satisfaction for the humble worker, apart from the fact that the bounds of human knowledge are widened in the long run.

The Prākrit dialects or the Middle Indo-Aryan languages in which Mahāvīra and Buddha preached their humanitarian principles, in which Aśoka inscribed his memorable edicts, in which hundreds of poets (only a few names from whom have come down to us through Hālas collection and Svayambhū's references) jubilantly sang about the various aspects of popular life, in which Kālidāsa's heroines wrote their letters, in which Vākpati, Pravarasena, Uddyotana, Haribhadra, Rajaśekhara, Svayambhū, Puṣpadanta, Guṇacandra, Rāma Pāṇivāda and others composed their ornate poetry and prose, in which saints like Joindu and Kāṇha poured their mystic musings, in which the heroic songs of Rajput bards resounded the four corners of Āryāvarta, and on the laps of which are grown the various Modern Indo-Aryan languages which we are struggling to enrich and of which we are so proud, cannot be ignored for a full understanding of Indian culture and civilization.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

On account of the war, the great curse on humanity, which has plunged the whole of Europe into a fatal feud and is drenching the continent with blood, our relations with our co-workers abroad are severed, and naturally we have not been in touch with their studies, in the last two years, connected with this section. If I have failed to mention any of the important contributions of my colleagues at home, their value is not likely to be detracted by this unfortunate omission; but I feel sorry, and I offer my apologies to them, that I am ignorant of their learned studies due to poor library facilities at my disposal. I offer my sincere thanks to you all for the patient hearing that you have given me. All of us are working in the field of Indian literature which has evolved and stood as the champion of the highest humanitarian principles in thought, word and deed; and we are meeting here at a critical hour in the human history when the whole civilized world is overcast with clouds of war: so I cannot better conclude than with the prayer of Amitagati:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

SOME JAINA GURUS IN KANNAḌA INSCRIPTIONS.

By

S. Śrīkaṇṭha Śāstri, M. A.

Guerinot in his *Repertoire d' Epigraphie Jaina* made use of the various archaeological publications for preparing a chronological list of the most important inscriptions mentioning Jaina gurus, donees, and patrons with approximate dates, and as Dr. A. N. Upādhye* has pointed out there is an urgent necessity to collate systematically the information from Praśastis and inscriptions published since Guerinot's pioneer publication. I propose here to give a dynastic and chronological index of names and dates pertaining to Jainism, chiefly culled from *recent* publications of inscriptions in the Kannaḍa country like the Madras Epigraphic Reports (*M. E. R.-E.*), Mysore Archaeological Reports (*M. A. R.*), Inscriptions of Northern Karṇāṭak and Kolhapur (*N. K. K. I.*) Karṇāṭaka Inscriptions (*K. I.*) etc. The dynastic arrangement has been followed and when ever possible the *guruparampara* and exact dates have been given.

CHĀLUKYAS OF BĀDĀMI.

1. Aḍūr: (Gangi Pāṇḍivūr). Kīrti Varma II. Jinālaya erected by a Gāmuṇḍa. Paralūr Gaṇa: Vinayanandi, Vāsudēva, Prabhā...., Śrīpāla, disciple of Prabhācandra of Paralūrcētya and (?) son of Dharma Gāvuṇḍa erected the Cētya with consent of Paramēśvara Mādhavattiyarasa, under Sindarasa governing Pāṇḍivūr. (*K. I.* no. 3)
2. Nagarūr: ... ditya Bhaṭāra; a caitya given by Toṇḍimānā Muttarasa (?) (*S. I. I. IX.* I. no. 52).
3. Purigere: Vijayāditya. 20 August, 733, A. D. Vikki Rāṇaka at request of one Vijaya gave grant to Śanikha Jinālaya at Purigere. (*M.E.R.* 1936 E. 34 cf. *I. A.* VII. p. 112).

**Presidential Address. Prakrit Pali and Ardha Māgadhi Section, Eleventh Oriental Conference.* Hyderabad 1941.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

4. Rāṇi Bennūr : Ś. 781...(859 A. D.) Nāganandyāchārya of Singhavura Gaṇa Gave land to basadi built by Nāguḷara Pollabbe. (*M. E. R.* 1934. E. No. 116.)

RĀṢTRAKŪṬAS.

5. Ālūr : Nityavarṣa. Ś 854 Pārthiva. (933 A. D. ?). Candiyabbe, wife of Kannara of Sindavāḍi built basadi to Padmanandi Bhaṭāra of Nandavura. (*S. I. I.* IX—I. no. 62)

6. Dānavulapāḍu : Nityavarṣa. Jaina image at Kaḍapa. A *Snapana śālā* for śānti built. (*S. I. I.* IX—I. 63)

7. Bāguḷi: Nityavarṣa. 972 A. D. A basadi for Mahēndra dēva Paṇḍita at Mincungeṛe (*S. I. I.* IX—I 71).

8. Daṇḍāpura : Prabhūta Varṣa. Ś. 840. 918 A. D. Grant of marriage incomes by Nanni Veḍanga at request of Dhōra for Kannengere. Composed by Ravi Nāga Bhaṭṭa and engraved by Śrī Vijaya, (*M. E, R.* E. 1934 63).

9. ... 9th C. Candranandi Bhaṭāra of Paḷḷivaḷḷa. Grant composed by Karaṇa Kundamayya sēnabōva of Indara Piṭṭamma. (*M. E. R.* 1934. E. 95).

10 Bankāpur: Nityavarṣa. 925 A. D. Candraprabha bhaṭāra in charge of Pasuṇḍi and Bankāpura Dhōra Jinālaya. Written by Lokayya. (*Bom. K. I.* I. no. 34).

11 Rōṇa : Akālavarṣa. Būtuga II in Gangavāḍi. His wife Pa(dma)-bbarasi to her basadi and Dānaśālā. Dec. 23. 950 A. D. Koṇḍakundānvaya, Dēśigaṇa, Mahēndra Paṇḍita

Viraṇandi

Gunacandra.

donee of Mārasingha.

975 A. D. 21 June. Padmanandi Bhaṭāra. Death of Amṛtabbe Kanti (*M. A. R.* 1939. 65).

KADAMBAS.

12. Kogōḍū : Nīti Mahārāja. C. 1034. A. D. Nīti died by sannyasana. (*M.A.R.* 1939. 36).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

13. Tumbadēvana Haḷḷi : Eṛeyanga Kādamba Cakrēśvara. 27 Oct. 1906 A.D , to Dēśigaṇa Ravicandrākhya Sai,..and Mācavve Ganti. (*M. A. R.* 1939. 37).

14. Banavāsi : Kadamba Cakravarti Virama (?). Oct. 25. 1081 A.D. To Dēśi gaṇa, Pustaka gaccha Sakala candra. Death of his disciple Bhōgavve, wife of Tippi Seṭṭi Sātayya. (*M.E.R.* 1936. E. 143).

WESTERN GANGAS.

15. Hosakōṭe c. p. of Avinīta : 12 yr. Kārtika Śn. 15. An arhat dēvā yatana built for the merit of the mother of simha Viṣṇu Pallavādhirāja and for his own merit—grant of land near the tank of the village Pulliūr in Korikunda, with śramaṇa-kēdāra. (*M. A. R.* 1938. 1.)

NOḶAMBAS.

16. Mayindamma : to a Basadi and Kamala Prabha Gorava. 9 c. A D. (*S. I. I.* IX—I. 19).

17. Dharma Puri : Iruḷcōra. To Māngabbe Kanti of Tagaḍūr (*S. I. I.* IX—I. 23) Feb. 5. 929 A.D. (*S. I. I.* IX—I. 23)

KALYĀṆI CĀLUKYAS.

18. ... Jagadeka Malla. 1148 A. D. Jan. 5 or 25 Dec. 1147 A.D. Malla Gāvuṇda of Nēralige in Belahuge to Mallinātha Jinēśvara. Mūla Samgha Sūrasthagaṇa Chitrakūṭa Gaccha—Digambara Harinandi. (*M. E. R.* 1934. E. 61).

19-20 ... Paḍevaḷa Taila and Attimabbe. (*Bom. K. I.* no. 52, 53)

21. Nandi Bēvūr : Āhavamalla (Sōmēśvara I). Dec. 24. 1054 A. D. Brāḥmaṇas gave to the basadi of Dēśigaṇa Pottage Vaḷi Aṣṭōpavāsi, disciple of Vīraṇandi Siddhanti. (*S.I.I.* IX—I. 115).

22. Kogali Basti : Trailōkyamalla (Somēśvara I). Oct. 27 1055 A. D. Basadi formerly constructed by Durvinita, then in-charge of Indra kīrti of Konḍakundānvaya, Dēśigaṇa, ornament of the court of Trailōkya malla. (*S.I.I.* IX—I. 117)

23. „ Indranandi's disciple Vādi Bhēruṇḍa Candranandi Paṇḍita of Kantiyara Jinālaya. Grant of chatra by Nolamba Seṭṭi and his wife Padmāvati abbe to the sthāna guru (*S. I. I.* IX—I. 130).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

24. ... 1074 A. D. March. 9. Nandiśvarāṣṭami. Jayakēśi of Maṇala Vaṁśa visited Purigere Permadi Basadi, Tribhuvana candra disciple of Gaṇḍavimukta of Bālātkāra Gaṇa (*M. E. R.* 1936. E. 29).

25. ... 1077 A. D. July 5. Wednesday; April 14, 1078. A. D. Śrīnandi Paṇḍita of Sūrastha gaṇa died by sallekhana at Âne Sajje Basadi of Purikara (1077). His elder brother Bhāskara nandi also died (1078 A.D.), (*M.E.R.* 1936. E. 6)

26, Marol. Jayasimha II Kamala Dēva Traikāla yogi
|
Vimukta dēva
|
...Siddhānta dēva.
Aṇṇiya Bhaṭṭāraka.
Prabhācandra of...Parṇa vatsala Vaṁśa.
Anantavīrya
... Kīrti dēva of Maravolala Basadi under Sattiga's daughter Mahādēvi. 1024 A. D. Dec. 24. Grant to Dēvakīrti Paṇḍita disciple of Guṇa kirti (*Bom. K.I.T.* 61) Cf. Ālūr Ins. of Vikrama V, Ś 933.(*E. I.* XVI. p. 27).

27, ... Yāpuṇiya Samgha...Śrīvara Traividya dēva
|
Jayakīrti.
Nāgacandra Siddhānti.

28, ... Grant to Nāgcandra on Dec. 24, 1029 A. D. (*Bom K. I.* I—65),

29, Mugad: Somēśvara I. (Yāpuṇiya) Śrī Kumudigaṇa Śrīkīrti.
|
Prabhā and Śaśanka munindrar.

Their Sahadharmas :
Nayakīrti bratinātha
Ekavīrar
Mahāvīrar
Viśruta kīrti (?)
...ndyācārya

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Narēndra Kīrti. His disciple Nāga (bi) kkivrati. His sahadharmi Niravadya Kīrti, Vāsudēva Svāmi Pārśvadēva Svāmi. His sadharmas Śubhacandra and Mādhavēndu brati. Mādhavēndra's Sadharmi Bālacandra

|

Rāmacandra

His agra śiṣyas Municandra,

Ravikīrti (Dayānidhi ?)

In Niravadya Kīrti's line Gōvardhana Dēva I, his Samapada Anantavīrya who wrote many sat kathā. His sahadharma Kumārakīrti, his priya śiṣya Dāmanandi, his sahadharmi Traividya Cūḍāmaṇi, Gōvardhana II, his śiṣya mukhya Dāmanandi gaṇḍavimukta. Vaḍḍācāryas of Kumudigaṇa.

Āhavamalla's subordinate Kadamba Caṭṭayya ruling Palasigē 1200, Mahārājavāḍi, Mugunda 30 whose Nārgāvuṇḍa Cāvuṇḍa made Samyaktva Ratnākara Caityālaya in Mugunda for Piriya Gōvardhandēva. Ś. 966. Pārthiva, 1045 A. D. March 25.

Cāvuṇḍa

|

Nāgadēva

|

Māraṇḍa.

constructed a nāṭaka śāla in the basadi built by his muttayya (? on the above date). (*Bom K. I.* I. 78)

30, Arasibiḍi : Akkādēvi at Gōkāge to Hogari gaccha Vīrasēna gaṇa Nāgasēna Paṇḍita of Goṇada Beḍangi Jinālaya of Vikrampura (Arasibiḍi). March 29. 1047 A. D. (*Bom. K. I.* I. no 80; *E. I.* XVII. p. 121).

31. Dambal : Bīrayya Seṭṭi built Nagara Jinālaya at Dharmavoḷal. 1059 A. D. March, 28.

32. Soraṭūr : Sōmēśvara II. Baladēva Daṇḍanāyaka, disciple of Nayasēṇa. Sūrasthagaṇa, Citrakūṭāṇavaya :

Candaṇandi.

Sakalacandra.

Dāvaṇandi.

Sakalacandra's sahadharmi Kaṇakaṇandi Saiddhāntika; his disciple Siriṇandi paravādi śarabhabhēruṇḍa; his

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

disciple Huḷḷiyyabbājjike in Saraṭavura Baladēva Jinālaya. Dec. 25. 1071 A. D. (*Bom. K. I.* I. 111).

33. Pongunḍa; Rājaḍhāni Pongunda Arasara Basadi of Sūrasta Gaṇa, Citrakūṭāṇvaya.

Kanakanandi.
|
Uttarā (sanga) Bhaṭṭāraka.
|
Bhāskaranandi; his sadharmi
Aruhaṇa nandi; his disciple
Ārya Paṇḍita. Dec. 24, 1074 A. D.
(*Bom. K. I.* I. 113).

34. Bijapur : Vikrama VI. ? Trailōkyamalla. Āyicamayya built Beṇṇūr. basadi at Beṇṇevūr, under Lakkharasa of Banavāsi. Mūla Samgha Candrikāvāṭavamśa Śantinandi. Ś. 988· Parābhava (1066-7 A.D.). (*M· E· R.* 1934 E. 113)

35. .... Bijji Seṭṭi established Pārśvanātha at Kannavuri. Koṇḍakundānvaya Mūla Samgha Dēśi Gaṇa Pustaka Gaccha Arhanandi Beṭṭedēva. Dec. 21, 1113 A.D. (*M. E. R.* 1934 E. 117).

36. ... Mūrujāvidēva of Purigere 1088 A. D. Dec. 31 (*M. E. R* 1936. E. 76).

37. Konakoṇḍla: Jōyima in Sindavāḍi. Nālikabbe's grant for the merit of her husband to Caṭṭa Jinālaya at Koṇḍakundeya tīrtha. 1081 A. D. Dec. 23. (*S.I.I.* IX—I. 150).

38. ... Inscription written by Malliyaṇṇa, chātra of Śrī Sarsvati gaṇa. 1126 A. D. Dec. 16. Śaiva inscription. (*S. I. I.* IX—I. 215).

39. Togarikuṇṭe : Queen Candala's son Kumāra Tailapa in Sindavāḍi Daṇ. Kommaṇayya on solar eclipse (no date) to Togarikuṇṭe Basadi of Candraprabha. Ācārya Padmaṇandi Siddhānti's disciple Pra...tīrthadēva. (*S. I. I.* IX—I. 221).

40. Seram : Tribhuvanamalla. yr. 48. Śōbhakṛt Māgha, Śn. 10. monday. Brāhmaṇas of Sōḍimba constructed Brahma

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jinālaya for Śāntināṭha and gave it to Prabhācandra Traividya with the land of Lōka-Jinālaya of Sēḍimba.

Maḍuvagaṇa Vīrapura tīrthādhipati
Prabhācandra Traividya.
|
Rāmacandra Traividya.
|
Prabhēndu Traividya.
(*S. I. I.* VII. 723).

41. ... Bhūlōkamalla : Brāhmaṇa Barmidēva Vibhu and Sēḍimba Vipras made Śāntināṭha Basadi to Prabhācandra Traividya Vādībha Kaṇṭhīrava.
Rāmacandra Traividya.
|
Traividya Prabhēndu.

42. Purigere : Indrakīrti Paṇḍita of Goggi Basadi and Pergaḍe Malliyaṇṇa. 1132 A. D. May 31. (*M. E R.* 1936 E. 48).. Ś. 1117. Ānanda. Caitra Ba. 2. Vaḍḍavāra. Tirtha Candraprabha dēva's disciple Peṇḍara Bāci Muttabbe died (*M. E. R.* 1935 E. 14).

43. Henjeru : Sōmēśvara IV. Bhōgadēva Cōla in Henjera to Mūla Samgha, Dēśigaṇa, Pustaka gaccha :
Vīraṇandi Siddhānta Cakravarti.
|
Padma prabhamaladhāri (donee)
Kīrtisēna (l. 38) (S. I. I. IX—I. 278)
Feb. 24. 1185 A. D.
Tribhuvana malla (Vikrama VI ?). Kumāra Tailapa in Sindavāḍi. No Date. Koṇḍakundānvaya Indra Kīrti (?)
Padmaṇandi ...
Nayakīrti dēva.

44. Śirasangi : Jagadēka malla II. Dec. 22. 1148 A. D. Śaiva inscription composed by Kalideva Paṇḍita, guḍḍa of Śrīmat Bhuvana candra Siddhānta Dēva (*N. K. K. I.* no. 24).

KĀLACHŪRYAS OF KALYĀṆI

45. Babānagar : Basadi at Kannaḍige to Dēśi gaṇa Māṇikya Bhaṭṭa-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

raka of Mangalivēḍa. Ś. 1083 Vikrama (1151? A. D.) (*M. E. R.* 1934, E. 120).

46, ... Ś 1084 (?) Kīrti Seṭṭi in Ponnavatti, Beḷahuge and Beṇṇeyūr built Pārśvadēva temple. Pustaka gaccha Maladhāridēva (*M. E. R.* 1933. 51).

YĀDAVAS OF DĒVAGIRI.

47. Puligere: Rājala Dēvi, daughter of Bīcirāja. Her rājaguru Padmasēna of Śrīvijaya Jinālaya at Purikara. Ś. 1169. Plavanga, Jyēṣṭha, Amāvāsya, (*M. E. R.* 1936 E. 9).

48. Kallukere: Ananta Tirthankara established by Mahāpradhāna Malla, Bāca and Pāyi Seṭṭi. Kamalasēna muni. 1243 A. D. August 30. (*M. E. R.* 1937 E. 53), 22. January 1251 A. D. to same God. (*M E. R.* 1937 E 54).

49. ... Kṛṣhṇa. Kulacandra
|
Sakala candra died. 6 yr. of Kṛṣhṇa, Virōdhi, Bhadra, Śu. 14 Thursday. (*M. E. R.* 1933. E 162).

50. Pūvina Paḍangili: Kusuma Jinanātha basadi (1 59). Ś 1181, 1258 A. D. (*S. I. I.* IX. I—371)

51 ... Mahādēva: Nandi Bhaṭṭāraka
(9 yr. Vibhava)
|
Naya kīrti, his disciple Nāḷprabhu Gangara Sāmanta Sova died by sannyasana at Cengūr. (Havēri Taluk) (*M. E. R.* 1933. E. 168).

52. ... Rāmacandra: January 1. 1289 A D. Mādayya, disciple of Samantabhadra Dēva died, (*M. E. R.* 1936 E. 72).

RAṬṬAS OF SAUNDATTI.

53. Hannikēri: Jaina inscription in Śiva temple. Kārtivīrya's son Lakshmidēva with his wife in Vēṇugrāma to Pārśva Jinēndra Bhavana constructed by Hollana. 1209 A. D. 9 Feb

Yāpanīya Kāreyagaṇa Maiḷapānvaya
Kanakaprabha (jātarūpadharavikhyāta)
|
Śrīdharadēva Traividya.
|
Kanakaprabha paṇḍita in Kūṇḍi
(*N. K. K. I.* no. 22. *K. I.* I.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

54. Rāyabāg (Kolhapur Museum) : Kārtavīrya. Ś. 500 (?) Bhāva. Mentions Yāpanīya Samgha Mūla Basadi. (*K.I.* I *W.K.K.*I.)

55. Baḍli : Raṭṭa Lakṣma Bhūpa, Municandra. Ś. 1141. Pramādhi. Temple of Abhinandana Siddhā...(?)
Yāpanīya Kāreyagaṇa.....Mahāmanḍalācārya.
...Mādhava Bhaṭṭāraka.
...dvinaya Dēva.
...Kīrti bhaṭṭāraka.
...Jina Dēva.
Yāpanīya Kanakaprabha.
|
Śrīdhara Traividya (*K. I.* no. 32).

HOYSAḶAS.

56. Viṣṇuvardhana ; For merit of Gangarāja's younger brother (?) Sōvaṇa to Hādiravāgilu Basadi. Nov. 16. 1121 A. D. (*M. A. R.* 1938. 38).

57. Kambada haḷḷi : C. 1130 Gangarāja's son Boppa caused Śāntiśavara Basadi to be made by Rūvāri Drōhagharaṭṭācāri Kanne, (*M. A. R* 1939. 66.)

58. Daḍiga : Mariyāne and Bharaṭa built five basadis, four for Dēśigaṇa and one for Krāṇūrgaṇa at Daḍigaṇa Kere.
Kāṇūrgaṇa, Tintriṇīgachha
Jāvaḷige Munibhadra (not candra)
|
Mēghacandra Siddhānti.

59. Bhadrabāhu : Dec. 25. 1153 A. D. (*M. A. R.* 1938. 10).

60. Narasimha III. 12 March, 1271 A. D. Sōmayyadaṇḍanāyaka's Maiduna Bācayya renovated Honkunda Basadi (near Halebīḍu). (*M. A. R.* 1937. 39).

61. Kogaḷi : Rāmanātha : To Cenna Pārśva Rāmanātha of Kōgaḷi Nāḷprabhu Dēvi Seṭṭi gave land. Sindaviga Bhadrasēna Paṇḍita. 24 Sep. 1276 A. D.
Kolhāpurasthāna Sāmanta Jinālaya
Kanakanandi
|
Prabhāca... (*S. I. I.* IX—1. 346. 47).

62 ... Ubhayācārya of Kōgaḷi. (*S. I I*—1. no. 360).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

63. Varuṇa : Draviḷa Samgha, Arumguḷānvaya Śrīpāla.

|

Padmaprabha

|

(putra) Dharmasēna died.
(*M. A. R.* 1940. 43).

64. Kelagere : Narasimha (III ?). Balātkāragaṇa :
Vardhamāna Bhaṭṭāraka.
Srīdharācārya.
Devanandi Traividya.
Vāsupūjya Siddhānti dēva.
Śubhacandra.
Abhayanandi.
Arhanandi.
Dēvacandra Siddhānti.
Kanakacandra Aṣṭōpavāsi.
Nayakīrti.
Cāndrāyaṇa Dēva
Ravicandra māsōpavasi.
Hariyanandi Siddhānti
Srutakìrti Traividya.
Vīraṇandi Siddhāntadēva.
Gaṇḍavimukta Nēmicandra.
...māna munindra.
Śrīdharācārya.
Vāsupūjya Traividya.
Udayacandra Siddhānti.
Kumudacandra Dēvara Mā (ghanandi ?)

To Māghanandi Siddhānta Cakravarti of Trikūṭaratnatraya Śāntinātha Basadi of Dorasamundra, Narasimha gave a village. (*M. A. R.* 1940. 37 cf. Halebid Ins. *M.A R.* 1911. p. 49).

65. Bāḍli : Ganga Kandarpa Jinālaya. Undėr a Hoysaḷa.....Kīrti panḍita Cikkayya and Dūsiga Pārisa Seṭṭi; mentions Permāḍi Basadi (*K. I.* 29).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

66. Mūgūr : Dēśigaṇa Pustaāa gaccha Ingaṇēśvara samgha.
Bhāṇukīrti
Paṇḍita dēva
|
Kāna
|
...nandi renovated Basadi. c. 13 c. A. D.
(*M. A. R.* 1938. 57.)

67. Dēśigaṇa, Pustaka gaccha, Hagare tirtha pratibaddha Bharata Paṇḍita received a grant from the daugher of Jakkiyabbe. 13 c. ? (*M. A. R.* 1938. 58.)

68. Tagaḍūr : Koṇḍakundānvaya Mula Samgha Nāganandi 14 c.A.D.
|
Anantabhaṭṭāraka
|
Nandibhaṭṭāraka.
|
...Kanti died at Tagaḍur
(*M. A. R.* 1938. 44).

69. Maisunāḍa...Saiddhānti dēva. His priyaguḍḍi Kēśavadēvi; her eldest sister Māradēvi died. 1384 A. D. June 5. (*M. A. R.* 1938. 36).

70. Bēlūr : Bhadrabāhu, Bhūtabali, Puṣpadanta, Ēkasandhi sumati, Akalamka, Vakragrīva, Vajraṇaṇdi, Śimhaṇandi, Kanaka sēna Vādirāja, Śrīvijaya, Śāntideva, Puṣpasēna, Ajitasēna Paṇḍita, Kumārasēna, Malliṣeṇa Maladhāri.....Śrutakīrti, Śrīpāla, Sadharma Anantavīrya, Vāsupūjyavratīndra, Vādirāja, Śrīpāla's disciple Māca Daṇḍanāyaka. His *vrata* and *Śrutaguru* paravādimalla Vādībhasimha mahā-maṇḍalācārya Śrīpāla traividya made Ādidēvara Basadi. 1153 A. D. Dec 25, Hoysala Narasimha gave Nāgarahāḷu. Guṇasēna Paṇḍita mentioned. (*M. A. R.* 1938. 10).

71. Bōgādi : Ballāḷa II. 1173 A. D. 13 Oct. Mācirāja gave a village to Śrīkaraṇa Jinālaya Pārśvadēva at Bōgavadi, Akalamka dēva simhāsana Padmaprabha svāmi (*M. A. R.* 1940. 29).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

VIJAYANAGARA.

72. Rāyadurga : Nandi Samgha Balātkāragaṇa Sārasvatagaccha Amarakīrti

(suta) Māghaṇandi Siddhānti. His disciple Bhōgarāja established Ananta Jina at Rāyadurga. Nov. 20, 1355 A. D. (*S. I. I.* IX—2, 404).

73. Kampa. Grant to Mallinātha (Jaina ?) April 15, 1365 A. D. (*S. I. I.* II. 411).

74. Irugappa son of Bayica Daṇḍanāyaka at Celu Mullūr. 1367 A. D. June, 11. (*S. I. I.* IX. II—412).

75. Cittāmūr (Gingee Taluk). Branch of Śravaṇa Beḷagoḷa Maṭha. Ś. 1500. Jagatāpi Gutti Buśśeṭṭi son of Bāyi Seṭṭi of Mahānāgakula. Neminātha of Mylapore established here. (*M. E. R.* 1938. p. 109).

76. [Abhinava Ādisēna Bhaṭṭāraka of Cittamūr maṭha. Ś. 1787 —V. N 2529. (*M. E. R.* 1938. 520.)]

77. Kurugōḍu : Acyuta 1545 A. D. Dec., 28. Mahāmaṇḍalēśvara Koṭagāra Rāmarāja Oḍeya's grandson Aḷiya Lingarāja's elder brother Rāmarājayya for the merit of his father Mallarāja Oḍeya gave grant to Kuṛigōḍa Basti Jinna dēva. Kamme Vaiśya Gōmi Seṭṭi restored the basadi for Padmarasa Paṇḍita of ŚrīMūlasangha, Balātkārāgaṇa. A. D. 1546. Feb. 8. (*S. I. I.* IX—2. 618).

TUḶUVA BHAIRARASAS.

78. Bhaṭkal : Malli Rāya's nisidhi in Bhaṭṭakaḷa. 1408 A, D. Oct 29. (*K. I.* no. 38).

79. Bhairādēvi's nisidhi. 1408 A. D, Oct. 27. (*Ibid.* 39).

80. Grants Kāyikiṇī Basadi of Pārśvanātha. 1417 A. D. Feb. 21. Pāyaṇārya established Kāikani caitya.

Balātkāragaṇa Sarasvatī Gaccha Vidyānanda Traividya Cakrēśvara. (*Ibid* 41.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

81. Hāḍuvaḷḷi : Māṇikyasēna, disciple of Jayasēna requested Sanga to allow saltēkhana. 1429 A. D. July, 2. (*Ibid* 49).

Sāḷvīndra Kṣitipa established Candraprabha and Mānastambha. 1484 A. D. June, 13. Paramaguru Paṇḍitārya of Sangītapura, (*Ibid.* 65.)

82. Mūḍa Bhaṭkal : Cenna Rāja disciple of Akalamka constructed a caitya: his queen Gangānvaya Bhāminī died by sallēkhana. 1490 A. D. April 30. .... dyānandārya. Bammaṇa (?) mentioned.

83. Mūḍa Bidre : Vēṇupura Abhinava Cārukīrti Paṇḍita made Tribhuvana Cūḍāmaṇi Caityālaya. Ś 1351 Saumya, Māgha, Śu. 5 Thursday. Mukhamaṇṭapa on Ś 1373 Prajāpati, Vaiśākha Śu. 7 Thursday. (*S. I. I.* VII. 196.)

84. ... Aṇṇa Sāmanta of Vamśapura. Ś. 1384. Khara, Kārtika. Śu. 5 Thursday. Cārukīrti Paṇḍita. (*Ibid.* 198).

85. ... Ś. 1409. Parābhava, Kārtika Śu. 1. Sunday. (*Ibid.* 199).

86. ... Ś. 1382 Vikrama. Phālguṇa Śu. 7. Paṇḍitadēva (*Ibid* 200)

87. ... Bhairava, disciple of Abhinava Cārukīrti began the Tribhuvana Cūḍāmaṇi caitya. Ś. 1351. Saumya, Māgha. Śu. 5 Thursday; at Bhallātakīpura, Beḷagolapura, Candragutti, Honnāvara. Vēṇupura-Candra Jina mandira was covered with copper for Vīra sēna guru. Queen Nāgala establishcd mānastambha. (*Ibid.* no. 202).

88. ... Ś. 1384 Viṣu. Puṣya. Śu. 1. Wednesday. Nagire Hire Bhairava very ill. Grant to Bidire Candranātha. His younger brothers Bhairarasa and Ambirāya to Beḷagoḷa Paṇḍita dēva. (*Ibid.* no. 203).

89. ... Paṇḍita Dēva (*Ibid.* No. 204).

90. ... Abhinava Cārukīrti and Sārakhēti Bhadradeva, Ś. 1454. Nandana, Caitra Śu. 1. Friday. (*Ibid.* 205).

91. ... Paṇḍita Dēva. (*Ibid.* 206).

92. ... Bhairādēvi Maṇṭapa. Kṣhēmapura Cārukīrti Sāluva Malla. (*Ibid.* 207).

93. ... Cārukīrti Paṇḍita. Ś. 1368. Durmukhi. Māgha Śu. 10. Friday. (*Ibid.* 209).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

94. ... Abhinava Cārukīrti; Munibhadra; Sēna gaṇa Vardhamāna. Ś. 1437 Yuva. Vaiśākha. Śu. 5 Thursday. (*Ibid* 212).

95. ... Cārukīrti. Ś 1460. Bahudhānya. Caitra (*Ibid* 214).

96. ... Candra Kīrti died. Balātkāragaṇa Traividya Cakravarti Śrī Pārśvanātha Mahēndrakīrti Dēva ... (*Ibid.* 217).

97. ... Death of Prabhēndu of Dēśi gaṇa (*Ibid.* 216).

98. ... Kulaśēkhara Āḷpēndra. Ś 1306. Kali 4484. Cārukīrti of Bidire Basadi. (*Ibid.* 225).

99. ... Abhinava Cārukīrti. Ś. 1312. Śukla. Mithuna. 15, Friday. (*Ibid.* 229).

100. ... Maladhāri Lalitakīrti. Ś. 1397, Manmatha, Mārgaśira Śu. 5. Sunday. (*Ibid.* 242).

101. ... Bhairavarasa. Lalitakīrti's disciple Sāntikīrti, Ś. 1501, Kārtika, Śu. 1. Wednesday. (*Ibid.* 243).

102. ... Kārkaḷa Kumāra Pāṇḍyappa Oḍeya. Lalitakīrti. Ś. 1514, Vijaya. Bhādrapada Śu. 3. Sunday.

113. ... Panaśōkāvaliśvara Dēśi Gaṇa Maladhāri Lalitakīrti's disciple Abhinava Paṇḍya of Humca. Ś. 1379, Iśvara, Kārtika Śu. 1. Wednesday. (*Ibid.* 246).

104. .... Rāya Jīva Rakṣāpāla Ballāḷa rāya citta camatkāra Cārukīrti Paṇḍita. His disciple Lokanātha Dēvarasa of Humca. Ś. 1256. Bhāva, Phālguṇa Śu. 5 Wednesday.

105. ... Tribhuvana vidyācakravarti Madhyānha Kalpa vṛkṣa Vādībhavajrāmkuśa Kāṇur gaṇa Bhānukīrti maladhāri. His agraśiṣya Kumudacandra in Karkala Śāntinātha basadi. (*Ibid.* 247).

106. ... Pāṇḍya, son of Bhairavarāja and Candalāmbā constructed Caturbhadra Basti. Dēśigaṇa Parasāravaliśvara Lalitakīrti. Ś. 1467. Krōdhi, Magha, Śu. 4. Sunday. (*Ibid* 248).

107. Vēṇūr : Cārukīrti's disciple Vīra Timmarāja Oḍeya Ajila's wife constructed Cendanātha Jinālaya to the left of Yenur Gummaṭa. Ś. 1526. Śobhakṛt, Mīna. 2. Sundy. (*Ibid* 251).

108. ... The chief constructed on right side Śāntinātha temple on same date. (*Ibid.* 252).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

109. ... Lalitakīrti. Ś. 1544 Durmati, Kārtika. Śu. 1. Sthiravārā. (*Ibid* 255).

110. ... Lalitakīri. Ś. 1459. Hēmaḷambi, Kārtika, Śu. 10. Sunday, His disciple Sālva Pāṇḍya dēva Ajila. (*Ibid.* 256).

111. Mulki ; Mānastambha inscription. (*Ibid.* 260).

112. ... Abhinava Cārukīrti. Ś. 1464. Śubhakṛt, Simha 13, Sunday. Kinnika Sāmanta's aḷiya Dugganṇa Sāmanta. (*Ibid* 262).

113. ... Cārukīrti Paṇḍita. Ś 1421. Siddhārthi. Māgha Śu. 1. (*Ibid* 369).

114. ... Nisidi of Kīrtibhaṭṭāraka of Kālōgraganṇa. Ś. 1314, Prajāpati. Caitra. Śu. 8. Tuesday. (*Ibid.* 370).

115. ... Abhinava Caritadēva's grant tō a basadi, under Rājaśēkhara of Vijayanagara. Ś. 1390 Sarwadhāri. Magha. Śu. 1. Monday. (*Ibid.* 371).

116. Bārakur. Harihara. Sarvappa Daṇḍanāyaka's grant to Pārśavanātha of Mūrukēri Basadi at Bārakūr. Ś. 1312. Śukla, Vṛṣabha māsa. (*Ibid.* 391)

117. Penukoṇḍa : Nisidi of Nāgāyi, guḍḍi of Mahāsakala viḍvajjana Cakravarti Śri Dharma bhūṣaṇa Bhāṭṭāraka. (*Ibid.* 576.).

HARATI CHIEFS.

118. ... Harati Rāyappa granted a village to Ratnagiri basadi renovated by Lakṣmīsēna (Contemporary of Dēva Rāja Odeyar. *E. C.* IV. *Nāgamangala* 43.) 1680 A. D. Sep. 7.

Samantabhadra
|
Vīrasēna
|
Lakṣmīsēna. (*M. A. R.* 1939. 62).

MISCELLANEOUS.

119. ... Padmanandi Bhaṭāra. Death of Amrtabbe Kanti. 975 A. D. June. 21 (*M. A. R.* 1939. 65).

120. ... Kolhapur Pillar Inscription. (*N. K. K.* I. no. 1.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE.

A. Chakravarati.

History of Jainism : The year 527 B. C., the date of Mahāvīra's Nirvāṇa, is a landmark in Indian History. We may say that an accurate knowledge of Indian History begins with the date of Mahāvīra's Nirvāṇa. Mahāvīra was an elder contemporary of Gautama Buddha. He was also the contemporary and a relation of Śreṇika Bimbasāra who was the king of Magadha with the capital of Rājagriha. People whose knowledge of Indian history is derived from old Sinclair's school history of India have got extremely erroneous notions about Jainism and its relationship to the other faiths in India. Sinclair because of inadequate knowledge gave currency to untruths and errors such as "Jainism is an offshoot of Hinduism and Buddhism and that Mahāvīra was the founder of Jainism." It is extremely unfortunate that even after accurate knowledge is obtained by oriental scholars and made available to the public, these erroneous views are prevalent among the educated Indians even now. We have only to state that Mahāvīra was the last and the 24th of a series of Tīrthaṅkaras who were supposed to be the custodians of Jaina doctrines. Oriental scholars have now definitely accepted that Mahāvīra was not the founder, but he was only a reviver of a Faith that existed even before him. The 23rd Tīrthaṅkara, Lord Pārśvanātha, who lived a couple of centuries prior to Vardhamāna Mahāvīra, is generally recognised now to be a historical personage. Even the 22nd Tīrthaṅkara, Arishṭa Nemi is considered to be a historical personage. This Arishṭa Nemi was a cousin of Śrī Krishṇa of Mahābhārata fame. Though he was the heir to the kingdom of the Harivaṁśas, he renounced the kingdom as a youth even before marriage and adopted asceticism as Gautama Buddha and Mahāvīra did long after him. His place of Nirvāṇa at Mount Girnar in Junagad state is still a place of pilgrimage for the Jains. Krishṇa's age as also the age of Mahābhārata war is supposed to be the beginning of Kaliyuga. Therefore Arishṭa Nemi who was a cousin of Śrī Krishna must be in the beginning of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the Kaliyuga. If Śrī Krishṇa is admitted to be a historical personality there is no reason why the same should not be said about Arishṭa Nemi Further, Arishṭa Nemi is mentioned in some of the Rigvedic hymns as one of the important Rishis. Hence, the Jaina tradition and the non Jaina tradition seem to accept the historicity of Arishṭa Nemi. Hence, it would not be altogether an improbable thing to suppose that the Ahiṁsā doctrine must have been prevalent even at the time of Arishṭa Nemi who is assigned to the beginning of Kaliyuga. To go beyond that would be to cross the border of history and to enter into pre-historic period whose events cannot be clearly vouchsafed for. But we have to go to the beginning of Jainism, according to the Jaina tradition to the age of Lord Rishabha. Lord Rishabha is considered to be first of the Tīrthaṅkaras. He is placed almost in the Kritayuga according to the Jaina tradition. He is supposed to be the last of the Manus and the first of the Jinas. We have very interesting account of this period.

Just prior to his appearance in the world, the people were living in a golden age where they had everything necessary for life provided for them by Kalpaka *vṛikṣhas.* The earth itself was surrounded by a sort of luminous atmosphere shedding light over the the surface of the earth and preventing a view of the heavenly bodies, Sun, Moon and Stars About the time of Rishabha all these things disappeared. Heavenly bodies were seen by the people giving rise to succession of night and day. Kalpaka trees disappeared throwing the people into a consternation not knowing how to live. Under these circumstances, Rishabha is said to have instructed the people to get on with different professions such as agriculture and trade, and taught them how to live at peace. He also explained to them the significance of the appearance of the Sun, the Moon and other heavenly bodies so that their novelty need not be a source of fear to the people. Because of this work of social organisation leading to the settled life of people occupied in different vocations, Lord Rishabha is very often described as a Creator of the world in the sense of Socio-economic foundation. After ruling over the land for several years he renounced the kingdom in favour of his son Bharata after whom the land is called Bharata-khaṇḍa and went to perform

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Tapas. After obtaining Sravajñahood or Omniscience, he spent several years in preaching the Dharma to the people, and finally obtaining Nirvāṇa on Mount Kailāsa which is a sacred place according to the Jainas. For this achievement Lord Rishaba is designated as Ādi Jina, Ādi Bhagavān, Ādi Īśvara, Yogīśvara, Mahā Yogi and such other names of adoration. For this cycle of time, therefore, Lord Rishabha is considered to be the first to preach Ahiṁsā Dharma and to lay the foundation of Jainism. We need not repeat the fact that this would take us to a far distant pre-historic period whose date cannot be accurately determined.

Here, it would not be altogether inappropriate to mention the fact that the story of Lord Rishabha, in almost identical words, is described in Bhāgavata Purāṇa and Vishṇu Purāṇa of the Hindus. There also, long long prior to the period of Avatāras, Vishṇu, in order to satisfy the request of Nābhi Rāja, was born as his son, Rishabha. In this Purāṇic account also, Lord Rishabha after reigning over his kingdom for sometime, abdicates the throne in favour of his son, Bharata, and retires into a forest to perform Yoga. There also, he is mentioned to have preached the Ahiṁsā Dharma and Yoga practice. But, according to the Purāṇic account, this new wisdom was not understood and appreciated by the people at large who mistook him as a madman, bringing in unintelligible innovations. This lack of appreciation given currency in the Purāṇic story may be explained as a result of unsympathetic attitude of the non-Jain author of Purāṇas. From these accounts, Jaina and non-Jaina, it would not be altogether improbable hypothesis to suggest that long before the so-called period of Avatāras, a sort of religious cult associated with Lord Vrishabha and based upon Ahiṁsā Dharma must have been prevalent in India. Though Lord Rishabha's activities were associated with Northern India, it may be safely asserted that his cult was prevalent probably throughout India and beyond. The ground for such a statement is the account of the rise of the Vidyādharas according to Jaina traditions. When Lord Rishabha abdicated his kingdom in favour of his son, he portioned out the country to his descendants before adopting Tapas. He forgot to assign any territories to Nami and Vinami, two junior members of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the tribe. These appealed to him very late and through the intervention of one of the Devas they were asked to settle down in the territory south of the Vindhya hills and found the kingdoms associated with the Vidyādharas. This tribe of Vidyādharas must, therefore, be considered as an allied tribe to the Ikshvāku group to which Lord Rishabha and Bharata belonged. These Vidyādhara kings who settled down in South of India are supposed to be the forefathers of the great Rāvaṇa who ruled over Laṅkā and Vāli and Sugrīva who had their kingdom in Kishkindha. Though Vālmīki Rāmāyaṇa described these as cannibalic Rākshasas and sub-human tribe of monkeys, the Jaina tradition is entirely different and describes them as highly cultured human tribes of Vidyādharas consisting of two branches of which one is associated with Vāli and Sugrīva of Kishkindha. Jaina writers make it quite clear that the latter called Vānaras by Vālmīki, is called so by a mistake due to a confusion. They had a Kapi-dhvaja; a monkey was inscribed on their banner for which they were called Vānara Dhvajas, in short, Vānaras. The point to be noted here is that the Jaina tradition that is found in all the Jaina works of Sanskrit and Tamil makes it clear that these Vidyādharas were the followers of Ahiṁsā Dharma because of their association with Lord Rishabha. As followers of Ahiṁsā Dharma they were certainly worshippers of Jina and were deadly opposed to animal sacrifice which was prevalent about that time. There is an interesting chapter in Padma Puarāṇa, the Jaina Rāmāyaṇa, with the heading, "Maruta Yajña Dhvaṁsa Parva", the chapter dealing with the destruction of Yāga or animal sacrifice proposed to be performed under the patronage of Maruta. Rāvaṇa who was ruling in Laṅkā and who prevented any attempt of animal sacrifice throughout his kingdom comes to know of the elaborate preparation made by Maruta for conducting Yāga according to Brahmanic Vedic rites. He hastened to prevent this, destroyed all the preparations made therein, drove away the congregations from the place of Yāgaśālā and issued strict orders to his officers not to permit any kind of sacrifice within his jurisdiction. This story clearly indicates the fact that these Vidyādhara kings who were in the south were of the Rishabha cult and hence were strictly opposed to Vedic sacrifice in the form of Yajña. This, obviously, explains why there was so

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

much opposition between the so called Rākshasas of the South and Āryan invaders of the north and why the Āryan Rishis had to obtain armed help for the conduct of their Vedic sacrifices as a protection against the interference by the Rākshasas ? Taking an impartial view of these Jaina Traditions, it would not be altogether wrong to suggest that throughout India there was prevalent the Rishabha cult of Ahiṁsā, not only in the North India but also in the South. That the Rishabha cult had been prevalent in North India long before the Āryan invasion is supported by the archeological research at Mohenjodaro and Harappa. The objects found there clearly point out the existence of culture and civilisation introduced by Lord Rishabha, the Mahāyogi. The abundance of the symbols of the Bull and the figures of Yogi is a clear evidence of that nature of the culture prevalent in that region. This may represent an indigenous culture or the culture of an earlisr tribe of foreigners who came to India. The question may be left open.

Confining ourselves to South India, we may assert without contradiction that the Rishabha cult must have been prevalent here long before the origin of Purāṇic Hinduism which supplanted Jainism in the South. Probably, the Śaivite cult of the later Purāṇic age is a corrupt modification of the Rishabha cult of the earlier age. According to the Jaina Tradition, the symbol or Lāñchana for Lord Rishabha is the Bull which according to Jaina Iconography is found inscribed even now in the 'pīṭha' on which the Idol of Rishabha is put up. Rishabha Lāñchana, mark of the bull, carved in the pedestel on which Rishabha's idol is situated may easily be mistaken for Rishabha-vāhana, and the God above may be mistaken easily as Rishabha, Rudra or Śiva. Curiously, the term "Śiva" is one of the names of Lord Rishabha and we have already mentioned that Mount Kailāsa was the place of Nirvāṇa of Lord Rishabha. We may also mention here that according to the Jaina Tradition, the day of the year which is called Śivarātrī now-a-days is Parinirvāṇa day of Lord Rishabha. Hence, Śivarātrī is an important festival for the Jainas who celebrate the Nirvāṇa day of Rishabha, just as Dīpāvali, the Nirvāṇa day of Mahāvīra Vardhamāna. Strangely, both these days are celebrated by the non-Jain Hindus also who invented different stories for their

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

celebrations. When we take these facts into consideration, it is obviously quite easy to change Rishabha cult of Ahiṁsā to the Śaivite cult of Rudra Śiva of the later day. But it is a deplorable thing that this change introduced an extremely regrettable form of religion. In place of Lord Rishabha, the earlier Śiva, who was Sarva-Jiva-Dayāpara, we have a Kapāli Śiva with a skull borne in his hand which is said to be drippling with blood. At one stroke, the Ahiṁsā Rishabha cult is converted into a cult of Hiṁsā giving sanction to Vedic sacrifice involving slaughter of animals. This introduction of Kapālic cult in the South is associated with the Hindu Revivalistic period of Thevara hymns, when a terrible religious animosity sprang up between the Hindu Revivalist and the older representatives of South Indian Culture, the Śramaṇas. Any impartial reading of the Thevara hymns will bring out the fact that the Hindu opposition was mainly due to the condemnation by Jainas of the Vedic sacrifice involving slaughter of animals.

The above account of prevalence of Jainism in the whole of India would naturally imply the rejection of the theory that Jainism was introduced in the South about the time of Chandragupta Maurya who with his Guru, Bhadrabāhu, the head of the Jaina Saṅgha, migrated to the South to escape from horrors of a terrible famine in Northern India about 3 centuries prior to the Christian era. This short account will give an idea of the antiquity of the Jaina Faith in India. We may also mention another fact which is borne out by Vedic literature. The people who were dwelling in the countries of the Ganges valley such as Kāśi, Kosala, Videha, and Magadha, though of Āryan origin had fundamental differences in their Faith and social values from the Kurupāñchāla Āryans. They were condemned by the more orthodox western Āryans because they were deadly opposed to animal sacrifice and were preaching the philosophy of the Ātman as more important aspect of Dharma than the Dharma associated with the Yajña. The group of philosophical literature under the name Upanishads has sprung from the Kshatriya heroes of the Gangetic valley to whom also belong the founder of Buddhism, Gautama Buddha, and also the last of Tirthaṅkaras, Mahāvīra Vardhamāna. Oriental scholars are generally of the opinion

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

that the Aryans who settled down in Indus Valley came later into India and pushed earlier Āryans who were living there towards the East. The theory of two different waves of invasions of Āryans not only implies two political groups but also two different cultural groups. The former group of Āryans according to our theory were the followers of Ahiṁsā doctrines associated with Jainism which probably was responsible for the springing up of Upanishads, a new ātman cult accepted by the Āryans of the Gangetic valley and which pushed to the background as inferior and unimportant the cult of Vedic sacrifice. Rishabha Deva according to the traditional account belongs to this group of Āryans. the tribe of Ikshāvaku is referred to in Rigvedic literature as an ancient tribe. Therefore, by the time the Āryans of the Indus valley composed their hymns, these Ikshvākus of which tribe Lord Rishabha was the greatest hero was considered an ancient clan and almost forgotten. All these facts go to support our theory that even before the advent of the Āryans and the Vedic hymns, there was an Āryan group in India from the Himalayas in the North to the island of Cylon in the South and who were characterised by an entirely different culture and civilisation mainly opposed to the other Āryan cult of Vedic sacrifice. In a later period of medieval India, the later Āryan cult characterised by Vedic Secrifice had a predominant influence and eclipsed completely the earlier Āryan cult associated with Lord Rishabha and characterised by the doctrine of Ahiṁsā. This domination of Vedic culture may be seen even in present day India as the main characteristic of Hindu Faith. Though the later revivalist cult of Hinduism successfully crushed out of India the Buddhism and completely subordinated Jainism, both being based upon Ahiṁsā doctrine, the revivalist Hindu cult of South India still retains important marks associated with the previous Ahiṁsā cult. The very word "Śaivam" in Tamil parlance means strict vegetarianism. The temple worship in the form of the worshipping the god with the flower instead of by sacrificing animals is also a characteristic of the earlier Ahiṁsā form of religion ; Śaivism though modified and degraded by the influence of Kāpālikas still retains essential characteristics of the earlier Rishabha cult which was the foundation of South Indian Religion.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Not only the Kāpālika faith had its influence on the older Ahiṁsā cult but also the śaktaism left its indelible mark on the earlier faith. Lord Rishabha who was Yogiśvara was given a wife and made a householder. Śakti the wife of Rudra Śiva with a garland of skull bones is consistent with Śiva the Kāpālika The old lord who was 'Sarvajīva-dayāpara', the 'Aravashi andanan' the symbol of harmony of love and peace was made at one stroke Rudra, the terrible destroyer of the Universe. This may be enough for the historical survey of Jainism in South India.

JAINISM AS HIGHLY DEMOCRATIC IN ITS SOCIAL ORGANISATION AND HIGHLY RATIONALISTIC IN ITS PHILOSOPHY AND RELIGION.

The introduction of the Purāṇic Hindu cult of the revivalists not only brought in such deplorable change in the religious ideal but also brought in equally deplorable change in the social organisation. According to Jainism there was no Varṇāśrama Dharma as is associated with Purāṇic Hinduism. Lord Rishabha, when he organised the society on functional basis of trade, agriculture and defence, did not introduce the sect of Brahmins. Bharata, Lord Rishabha's son and successor to the kingdom, felt the necessity of creating a new group of people to look after religious worship and propagation of higher Dharma. How he created the Brahmin group is an interesting study. He devised a method of selecting the best men in the society who would pay unswerving loyalty to Ahiṁsā Dharma and these were called Brahmins not by birth but because of qualification, and they were ordained to be the custodians of religious ceremonies and the propagation of religious Dharma. Thus the differentiation in social organisation according to Jainism is entirely due to qualification and not to birth. Even a low born Chāṇḍāla, if he had necessary qualification, had the chance of being considered the highest in society. That such was the organisation of society in the South is borne out by Tamil literature. Ancient Tamil literature has two distinct words, one to designate the Brahmin by birth and the other to designate the Brahmin by qualification. The former is

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

always referred to as *Parpan* and the latter because of his loyalty to Ahiṁsā Faith is called *Andanar*. The definition in Kural of an Andanar as one who is of the Ahiṁsā Faith and who is characterised by his love and sympathy to all living creatures is an evidence in support of this view. The social organisation based upon culture and qualification has at one stroke been converted to the Varṇāśrama Dharma claiming superiority merely on the ground of birth. Thus South India not only lost its noble religion of Ahiṁsā but also lost its democratic organisation of society and instead voluntarily submitted to a form of social slavery from which it has not been able to liberate itself in spite of strenuous efforts made by it in recent years. The revivalists introduced a form of social serfdom in place of the noble social democracy of the earlier days. In this connection it will not be out of place to mention that the Tamil term "Aram" which is considered to be a translation of the Sanskrit term Dharma has nothing to do with *Varṇāśrama*, which is the only meaning of the term Dharma in Hindu Dharma Śâstra

RATIONALISTIC PHILOSOPHY IN RELIGION

An impartial study of Jaina literature relating to philosophy and religion reveals the important characteristics of its rationalism. In this respect it may be said to be diametrically opposed to the Purāṇic Hinduism. Though it is opposed to Purāṇic Hinduism yet it is very closely allied to the earlier *Darśanas* such as Sāṅkhya, Yoga, Pūrva Mīmāṁsā and Vedānta. The philosophic Darśanas of early Hindu faith the systematisation of which must be placed just after the period of the Upanishads have a good deal in common with Jaina philosophy. The so-called orthodox six Darśanas agree with Jainism in one important fact, that the Ultimate Reality of Cosmos was always permanently existing, uncreated and indestructible. The story of creation as is associated with Semitic relgions such as of the Jews, Muhammadans and the Christians has no place in Indian thought. Creation of the world out of nothing by the will of the creator is entirely a non-Indian concept. Even the Hindu Darśanas such as Nyāya and Vaiśeshika which speak of an Iśvara

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

or the Creator admit the existence of Jīvas and Paramāaṇus or atoms of matter, the living and non-living elements as eternal and uncreated. Out of these existing materials Īśvara is supposed to fashion out living beings by bringing together the already existing life and matter. Sāṅkhya Darśana and Pūrva Mīmāṁsā utterly ridicule the idea of a creator and reject the creating theory wholly. Vedānta Darśana in all its forms adopts a similar attitude in rejecting the creation theory. It favours the theory of manifestation according to which the world is a result of a manifestation of an already existing reality, a process of evolution, from a reality which is parmanent, eternal and uncreated. Jainism does the same thing. It rejects creation theory in toto and it does not accept an Īśvara as a creator of the world and life. Though it agrees with the other Darśanas in this fundamental doctrine, the Purāṇic Hinduism which developed a sort of religious animosity against Jains condemned Jainism as atheistic or the Nāstikas because of its rejection of the creation theory. To an impartial student of the history of religions in India it must appear that all the Darśanas, irrespective of the difference of orthodox or Heterodox must be Nāstika Darśanas according to the criterian of the creation theory. Hence a condemnation due to religious enmity, need not be considered as of any great philosophical importance, for one knows fully well that Jainism has this as a common ground with the other Darśanas of Indian thought.

THE CONSTITUTION OF REALITY ACCORDING TO JAINA PHILOSOPHY.

Reality according to Jaina philosophy is of complex structure. It always embodies in itself various characteristics, some of which may be opposed to one another. An exact parallel to it in modern thought is the biological concept of Metabolism. Modern biology traces living organism to the fundamental biological concept of metabolism which consists of two opposite processes, Anabolism and Catabolism, the process of breaking up and process of building up, held together by a synthetic process of equilibrium which wholly comes under the designation of Netabolism. In non-scientific language this may be described thus: that the living process is a

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

combination of alternative processes of birth and death the equilibrium between which is maintained by a life process itself. Disintegration is necessary for the release of energy for life, integration is neeessary for building up latent energy, and maintenance of a suitable equilibrium between the both is absolutely necessary for continuance of life. This is taken as a symbol of reality by Jaina philosophers and has been extended to the whole realm of reality. Everywhere we have as an object which embodies in itself two opposite processes of breaking up and building up, appearance and disappearance, through an underlying persistent reality which guarantees the permanence of the world. We may find an illustration of this concept throughout the botanical and zoological kingdoms. Take the case of the life of a plant. It begins with a seed. The seed must change if it is to sprout out into a plant. If it remains permanently as a seed it will cease to germinate and die, i.e., it will cease to be a seed. Thus a seed must die and yield place to sprouting plant. Similarly the sprouting plant must shed leaves if it is to continue as a living organism till it grows into huge tree with fruits and flowers. At every stage it must lose its old self and grow into a new self thus alternating its life with birth and death, appearance and disappearance, through a continued existence. This concept of reality is variously described in modern thought as unity in multiplicity, identity in the midst of difference, permanency in midst of change. In western thought such a concept is associated with Hegel, the German philosopher, whose dialectic concept implies two opposite processes of thesis and antithesis both combined by synthesis. Thus in popular language reality may be said to be a combination of opposites.

This concept of reality which is the foundation of Jaina philosophy is technically known as Anekāntavāda, multisided reality. Jaina philosophers themselves adopting Anekāntavāda concept of reality criticise and reject all the other schools of thought as Ekāntavādins, philosophers who mainly stick to one particular aspect of reality to neglect of the other aspects. Thus the Vedāntin who speaks of an unchanging permanent reality and who dismisses all the changes as unreal is an Ekāntavādin according to Jainism. If as is claimed by

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the Vedāntin, reality is an unchanging permanency there is no scope for life, no scope for Saṁsāra, no necessity for Moksha, or Moksha-mārga. The whole religious framework will thus appear to be superfluous and useless, as it is based upon unreality. Change must be accepted as real, if life is to be real and if Saṁsāra is accepted to be as real. It is only then that we can appreciate the utility of religion, and religious doctrines contributing to salvation of the soul. Similarly onesided is the Buddhistic emphasis of change alone as real. According to its Kshaṇikavāda, momentariness of reality, a permanent underlying reality is denied altogether. Both the self as well as the outside world is analysed into momentary ephemeral elements coming and going in a series without implying an underlying reality of self or non-self. Hence Buddhistic philosophy is known as Anātma Vāda, a doctrine that does not recognise the existence of a permanent self or ātman. This philosophy is also condemned by the Jainas as an Ekānta Vāda of an opposite type. If the world consisted of merely ephemeral elements coming and going in a series, it cannot accommodate a religious philosophy contemplated by Buddhism. Since there is no permanent self, there is no responsible person who can be taken to be the author of his conduct. Moral conduct and its evolution would become meaningless. The person who did the act passes away and a different person comes to enjoy the fruits thereof. There is no justification why a different personality should enjoy the fruits of the Karma by another distinct personality. Ethical responsibility loses its meaning and value in this Anātmavāda. Thus the Jaina philosophy combines in its own system both the aspects and describes reality as an ever changing one with its permanent reality as foundation. The self according to Jainism is thus not only a permanent reality but a permanent reality which maintains its permanency through a continuous process of change and may for a certain other purpose emphasise changes. But a complete comprehension of reality must take into consideration both these opposing aspects. In other view it will be incomplete and partial. Hence Ekāntavāda implies a partial aspect of reality whereas Anekāntavāda implies a complete comprehension of reality in toto.

To be Continued.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Editorial Note.*

It seems that the learned writer has written this article on the authority of the Śvetāmbara Jaina canonical books only and so it narrates the Śveṭāmbara view. The Digambara tradition is quite different from it; and the canonical books of the Digambaras were recorded in black and white by Yativraṣabha, Bhūtabali and Puṣpsdanta long before Devardhigaṇi Kṣmāśramaṇa, who recorded the Śvetāmbara Angas at Vallabhi in the sixth century A. C. The Digambaras differ in respect of the life stories of both the Tîrthankaras; i.e. Pārśva and Mahāvira. They say that like all other Tîrthankras Pārśva and Mahāvīra also adopted the vows of a Śramana in naked state and as ascetics they never wore clothes. Pārśva and his disciples observed the vows of conduct in the form of the Sāmāyika-cāritra; but Mahāvîra, however, propogated the rules of conduct according to the Chhedopasthāpanā-cāritra. (See Mûlācāra 7/32). Mahāvîra was a celibate all through of his life. He was married never and had no progeny. The Digambara tradition is not akin with the Śvetāmbaras in naming a brother of Mahāvîra by name Nandivardhana and it is obscure to name any schism in the Jaina Church during the life time of Mahāvīra. According to the Digambaras, Mahāvîra's embryo was never replaced in the womb of Triśalā from that of Brāhmaṇî Devanaṇdā. It looks absurd in the face of the assertion of the "Kalpasūtra" that the Tîrthankaras are ever born in the noble families of the Kṣatriyas, that Mahāvîra was an exception to this eternal law of the Karma theory. It seems an innovation by the Śvetāmbaras in order to gain votaries from amongst the Vaiṣaṇavas, to whom the God of Progeny (Naigmeṣa) belongs originally. (J. A. III, 83—92). Likewise the life story of Mahāvîra as narrated by the Śvetāmbaras, betray the influence of the Buddhists and it seems most probable that in order to win over the Buddhist Rulers of Vallabhi and to give an ancient appearance to their canonical Books the Śvetambaras borrowed much from the Pālî Pitakas of the Buddhists[1]. Hieun Tsang, who visited India nearabout the period when Devardhigaṇi Kṣamāśramaṇa

---

* See Vol.IX, No. I, P. 32.

1. *Buhler*, Indian Sect of the Jainas, p. & Cambridge Hist. of India, I. pp.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

recorded and arranged the Śvetambara conons, brought a similar charge against the Śvetambaras[1]. It seems the reason for the close resemblance of the life stories of Gotama Buddha and Mahāvira narrated by the Śvetāmbaras. Moreover there is a tradition among the Śvetāmbaras themselves that along with other four Tîrthankaras, Mahāvîra was also a celibate all through his life[2]. In their more ancient portion of 'Acārānga-Sūtra' where the life of Mahāvîra is narrated, there is no mention of marriage etc of Mahāvīra. If it was a fact, the Digambaras would have gladly narrated it, since it has no dogmatical influence on either side.

The Digambara tradition about the nudity of asectic Tırthankara Pārśva is corroborated by the evidence of the Buddhist canonical books and epigraphical one as well. In whole of the Buddhist literature the Jaina ascetics (Nirgranthas) are described as naked monks[3]. These notices refer not only to the Niganṭha Samanas of the Order of Mahāvira, but indirectly they describe the pre-Mahāvira Niganṭha samanas as naked as well. For it is said in the "Mahāvagga" (1, 70, 3) :—

"At that time the Bhikkus cenferred the *upasampadā* ordination on persons that had neither alms-bowl nor robes. They went out for alms naked and (received alms) with their hands. People were annoyed, murmured and became angry, saying : Like the Tithiyas, etc." (Vinaya Texts, S. B. E., XIII, 223).

---

1. The Chinese traveller in describing his Ketas (Sinhapur) writes : "Not far from the tope was the place at which the founder of the 'white clothes' (Śvetapata) sect having come to realize in thought the principles for which he had been seeking, first preached his system..... The disciples [of the founder of the white clothes sect] practise austerities persevering day and night without any realisation. The system which their founder preached.....*was largely taken from the doctrines of the Buddhist canon.....*"

—*Watters*, 'Yuan Chwang', Vol. I, pp. 251—252.

2. It is clearly stated in the "Āvaśyaka—Niryukti" of the Śvetambaras that Mahāvîra adopted the vows of a Śramaṇa without undergoing the ceremonies of marriage and coronation during his life. (नय इत्थि अभिसेआ कुमारववासंमि पव्वइया)

3. Kane Presentation volume (Poona), pp. 228—229.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

These *Titthiyas* were, no doubt, the non-Buddhistic monks, belonging to older orders than those of Mahāvira and Buddha[1] and the description of them as given above, coincides exactly with that of Digambar Jaina monks. Hence Rev. Dr. Stevenson is right in assuming the use of the term 'Titthiya' in the sense of the Jainas[2]. Thus it goes to prove that the monks of the Order of Pārśva lived naked. Likewise the images of Pārśva found at Mathurā bearing inscriptions of the Śvetāmbara lineage of pontiffs, are naked[3],

As to the four vows of Pārśva, it cannot be said that they are referred to by the Buddhists. We find the following statement in their "Sāmaññaphala Sutta" *put forth* from the mouth of Lord Mahāvīra himself :—

"A Niganṭha, O king, is restrained with a fourfold self-restraint. He lives restrained as regards all water; restrained as regards all evil; all evil has he washed away; and he lives suffused with the sense of evil held at bay. Such is the fourfold restraint."

There are not mentioned four vows of Lord Pārva in it, as alleged by the Śvetāmbaras. This passage refers to the *saman*-hood (asceticship) as preached by Lord Mahāvīra[4] and T. W. Rhys-Davids is justified to remark that four vows of Pārśva are not referred to in it[5].

K. P. Jain.

---

1. *Law.* Historical Gleanings, pp. 11—12.

2. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, January 1855, IV. 401.

3. *Smith,* Jaina stupa & other Antiquities of Mathura, p. 24 ft.

4. Studi E. Materiali Di Storia Delle Religions, III, 7—10.

5. "Prof. Jacobi (JS., II, XXIII) Thinks the 'Four Restraints', are intended to represent the four vows kept by the followers of Pārśva. But this surely cannot be so, for these vows were quite different."

—T. W. Rhys Davids (Dialogues of Buddha) (S. B. B. Tr.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Genealogy of Maṇḍana, the Jaina Prime Minister of Hoshang Ghori of Malwa - Between A. D. 1405 and 1432.

By

P. K. Gode, M. A.

Curator,

B. O. R. Institute, Poona 4.

In a paper contributed by me to the "Dr. A. B. Dhruva Commemoration Volume" on "*Maṇḍana, the Prime Minister of Malwa and his Works*" I have assigned this Jaina author to the period. A. D., 1400 to 1432 on the following grounds :—

(1) Mss. of Maṇḍana's works शृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन are dated *Saṁvat 1504 = A.D. 1448.*[1]

(2) अलमसाहि or अलमसाहि the patron of Maṇḍana has been identified by me with अलपखान or Hoshang Ghori, who ruled Malwa between A. D. 1405 and 1432 or so.

Since the above paper was sent for publication I have discovered the following chronological evidence in support of my chronology for Maṇḍana and his works :—

(1) Prof. H. D. Velankar in his जिनरत्नकोश or *Catalogus Catalogorum of Jaina Mss* that is now being published by the B. O. R. Institute, Poona, makes the following entry about an author धनदराज :—

"शतकत्रय (नीति, वैराग्य and शृंगार) by धनदराज संघपति, son of देहड— Chani. 69; PAPR. 18 (19); PAZB. 1 (28; 29—MS dated *Saṁvat 1504*); 23 (8—MS dated *Saṁvat 1504*)."

It is evident from the above entry that MSS of the शतकत्रय of this author धनदराज were copied in *Saṁvat 1504* (= A. D. 1448) the very

---

1. Vide मण्डनग्रन्थसंग्रह (काव्य-मण्डन-शृङ्गारमण्डनौ) ed. by Prabhudāsa and Vīra-Candra, Patan, 1919 (हेमचन्द्राचार्यग्रन्थावली No. 17)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

year in which the MSS of Maṇḍana's शृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन were copied. Let us now see if धनदराज has any connection with मण्डन the Prime Minister of Almsāhi of Malwa.

I have already pointed out in my paper on Maṇḍana that his father चाहड was a संघपति connected with the खरतरान्वय and that he himself was a संघपति like his father and a devout follower of Jain religion as he calls himself "श्रीमद्बन्धुजिनेन्द्रनिर्भरनतेः ··· कवेः". Maṇḍana further gives us the following information about his family :—

(1) झंझण was his grand-father.

(2) झंझण had six sons :—

(i) चाहड, (ii) बाहड, (iii) देहड, (iv) पद्म, (v) पाहुराज and (vi) कोलाभट्ट (?)

(3) बाहड in the above list was Maṇḍana's father. Unfortunately Maṇḍana does not record the names of his cousins, the sons of चाहड, बाहड, देहड etc. This deficiency has, however, been partially made up by the entry regarding the शतकत्रय of धनदराज, son of देहड. I am inclined to identify देहड, the father of संघपति धनदराज with Maṇḍana's uncle देहड. The title संघपति appears to have been held by many members of the family as मण्डन calls himself संघपति. He also calls his father संघेश्वर (or संघपति). धनदराज was also a संघपति and MSS of his शतकत्रय were copied at मण्डपदुर्ग in A. D. 1448, the very year in which the MSS of Maṇḍana's works were copied.

धनदराज composed his शतकत्रय at Maṇḍapadurga or Maṇḍu fort in *Saṁvat 1490 = A. D. 1434.* This date confirms my chronology for Maṇḍana viz. A. D. 1405 to 1432, a period during which his patron Hoshang Ghori ruled Malwa. Both these cousins मण्डन and धनदराज were men of literary taste and ability and if one of them composed a work in A. D. 1434 the chronology of the other cousin's works may be safely assigned to the period, A. D. 1405—1432, as determined by me already on the strength of probable evidence which now gets confirmed by the date of धनदराज viz. A. D. 1434.

1. Ed. in Kāvyamālā, 13 (N. S. Press, Bombay). Vide p. 318 of *Classical Sans. Literature* by Krishnamachariar, 1937—"Dhanadarāja, son of Dehala, wrote three Śatakas like Bhartṛhari in 1434 A. D."

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The genealogy of Maṇḍana's family may now be reconstructed as follows :—

झंझण (of श्रीमालवंश)

Sons

चाहड	वाहड (संवेश्वर)	देहड	पद्म	पाडुराज (जैनेन्द्रधर्माश्रितः)	कोलाभट्ट
	son (संघपति) मण्डन author of काव्यमण्डन, शृङ्गारमण्डन (Mss of A. D. 1448) and सारस्वतमण्डन (Ms of A. D. 1575) and संगीतमण्डन and महाप्रधान of अलमसाहि of Malwa (Hoshang Ghori[1]—A. D. 1405—1432)	son धनदराज (संघपति)			

(composed शतकत्रय in *A. D. 1434*) —Ms of A. D. 1448.

In the following stanzas we find Maṇḍana recording his ministership with अलमसाहि, his Jaina faith, his श्रीमालवंश, and his father's name :—

MSS of सारस्वतमण्डन (B. O. R. Institute, Poona) *No. 675 of 1891—95* fol. 17 a and *No. 13 of 1877—78*, folio 17—

"सविग्रहाणामुभये स्वराणामिति प्रकृत्या सहसाहसानां ।
श्रीमण्डनः सूभविदलमसाहिमहाप्रधानो व्यदधात्सुसंधीन् ॥
सद्यःसांद्रजिनेंद्रसुंदरपदद्वंद्वप्रसादोद्भव—
द्भूयोभीष्टपुमर्थसार्थकजनुः श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडास्यात्मजः
श्रीसारस्वतमंडनं रचयति क्ष्मामंडनं मंडनः ॥"

Udayarāja[2], a court-poet of Mahamūda Begḍā, Sultan of Gujarat composed a poem in praise of his patron called the राजविनोद. In this

1. Cf. *Ain-i-Akbari* (Tr. by Jarrett, Vol. II, 1891).
p. 218—"*Alp Khān*, son of Dilāwar Khān was elected to the succession under the tile of *Hoshang*.....Sultan Muzaffer of Gujarat marched against him."

2. Vide pp. 101—115 of *Journal of the Bombay University*, Vol. IX, Part 2, Sept., 1940. (My paper en the *Rājavinoda* of Udayarāja).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

poem he refers to the confinement and release of अलपखान[1] (=अल्म-साहि patron of मण्डन) or Hoshang Ghori of Malwa as follows :—

"मुमोच बंदीकृतमल्पषानमनल्पवीर्यं बलवत्तरोयः ।
वंशास्ततो मालवराजबंदिमोक्षं पदाख्यं विरुदं वहन्ति ॥"

This confinement and release was carried out by Muzaffer, Sultan of Gujarat (A D. 1392-1410) sometime about A. D. 1409. The poem राजविनोद was composed between A. D. 1458 and 1469 and consequently the use of the name अल्मसाहि for Hoshang Ghori is earlier than the use of the name अलपखान recorded by Udayarāja.

The students of the history of Malwa should investigate and determine the exact period of Maṇḍana's Prime-ministership and the influence exercised by this Jaina Prime-minister on the policy of Hoshang Ghori This associaticn of a Jaina संघपति with a muslim ruler of Malwa in the first half of the 15th century is as interesting as it is instructive. Maṇḍana refers to his Muslim patron in glowing terms in his काव्यमण्डन and श्रृंगारमण्डन, as also in his सारस्वतमंडन. The MS of Maṇḍana's संगीतमंडन is not available to me and hence I am unable to say what information it contains about its author and his Muslim patron.

1. Ibid, p. 105, foot-note 1.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Review.

PROGRESS OF INDIC STUDIES 1917—1942.

Ed. by R. N. Dandekar, M. A., Ph. D.

The Bhandarkar Oriental Institute is to be congratulated upon bringing out such a valuable reference book. The immense progress made in almost all the branches of Indic studies during the last quarter of the century has been recorded with commendable exactness. As the late Dr. Har Dutt Sharma points out the disturbed international situation has certainly proved a handicap to the learned contributors. If the bibliographies compiled by them are not up-to-date as far as foreign scholars and Journals are concerned it is through no fault of theirs.

It was high time that we paused to have a retrospective view of the panoramic efforts made by a generation of scholars to unravel successfully the tangled skein of Vedic, Puranic, classical, Prakritic, Linguistic, sociological and Philosophical problems and kindred matters. The Editors could not include a paper on Islamic studies inspite of their best efforts but they have published a valuable article on the progress of Iranian studies.

It is specially noteworthy that the 'fugitive literature' of the different journals has been collected together so diligently by the learned contributors. The collection, therefore, is a veritable encyclopaedia of Oriental studies making easily available to scholars useful material for which they have to hunt in libraries.

Its utility would have been increased if an Index would have been appended. One would have expected separate papers on Pali, Buddhism and Jainism in such a collection which aims to be comprehensive and undeniably is to a considerable extent.

N. V. Sarma.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

PRAŚASTI SAMGRAHA.

The Mss. described in this Vol. are about 54 in all and give a valuable indication of the range of intellectual culture of the Jains. The Mss. are valuable from many other points of view also which a specialist can appreciate.

The study and description uf Mss. form one of the fundamentals of research, which require not only learning but also patience and patient iabour. Bhujabali Shastri shows himself in an admirable form in the present work. He has given a brief description of each Ms. in the usual style, giving Subject No., General No., name of the work, author's name, indication oi pages, condition of the Mss., date of writing if available, languages, script and remarks if any are required on the special features of the Mss. or the work and its authors. The editor has considerably enhanced the usefulness of the work by including in it an index comprising subject, author and general.

The Jaina Siddhanta Bhavan and Pt. K. Bhujabali Shastri deserve to be complimented for turning out the above work. The printing and general get up are quite good.

—Journal of Sri Venkatesvara Oriental Institute, Tirupati.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. 1943

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1-8

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

		Pages.
1.	Advent of Jainism—By Prof. D. S. Triveda ...	32
2.	Editorial Note—By K. P. Jain	88
3.	On the Latest Progress of Jaina and Buddhistic Studies —By Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt. ...	20
4.	On the Latest Progress of Jaina and Buddhistic Studies —By Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt. ...	47
5.	Review	40
6.	Review	95
7.	Restraint an important Factor in Ancient Indian Penalogy —By Prof. Nalina Vilocana Sarma, M. A. ...	41
8.	Some Jaina Gurus in Kannaḍa Inscriptions—By S. Srikaṇtha Sastri, M. A.	61
9.	The Pramāṇa-Sundara of Padmasundara—By K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L.	30
10.	The Jaina Theory of Anekanta-Vāda—By Prof. K. C. Bhattacharya	1
11.	The Chronology of the Commentary of Sadānandagaṇi on the Siddhanta-Candrika of Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama—A.D. 1743—By P.K. Gode, M.A.	15
12.	The Contribution of Jainism to World Culture—By A. Chakravarati	76
13.	The Genealogy of Maṇḍana, the Jaina Prime Minister of Hoshang Ghori of Malwa-Between A. D. 1405 and 1432—By P. K. Gode, M. A.	91

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited by

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahopādhyaya Dr. R. Shamshastri. pp 5+200+25=230 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

'It is a very useful compilation. Very carefully prepared.'

Prof. D. L Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.'

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.'

Prof. Chintaharan Chakravarti Calcutta.

'Thank you very much for the Copy of the Prasasti Samgraha, which will be of great use for my Catalogue work.'

Dr. Raghavan
University of Madras.

'Pras'astisamgraha, by Pt. K Bhujabali Shastri. This is a good descriptive Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss.'

—The Poona Orientalist

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशस्ति-संग्रह

"प्रशस्ति-संग्रह आद्योपान्त पढ़ा। इसमें ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां है। ग्रन्थ-प्रशस्तियां इतिहास-निर्माण के बहुमूल्य साधन हैं। इतिहास अन्वेषकों के लिये प्रशस्ति-संग्रह की अत्यावश्यकता है। आपने बड़ी खोज और श्रम के साथ जो प्रशस्ति-संग्रह जनता के सामने रक्खा है, वह आप का अपूर्व कार्य है। उक्त संग्रह में करीब ४० ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय है। आप की इस खोज और विद्वत्ता से मैं ही नहीं बल्कि सारी जैन समाज आभारी रहेगी।"

—नन्हेंलाल शास्त्री, कुचामन

"प्रशस्ति-संग्रह लिखकर आपने जैनसाहित्य के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के समय निरूपण का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी व्यक्ति आप की विस्तृत ऐतिहासिक गवेषणा तथा अनुशीलन की प्रशंसा किये विना नही रह सकता।"

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य—अर्हद्दास [एक बहुत ही सुन्दर सरल एवं सरस जैन महाकाव्य]—अनु० पं० के० भुजबली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी २)

(१) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिकशास्त्र [फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ग्रन्थ] अनु० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन]— सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ॥)

(४) वैद्यसार [रसायन सम्बन्धी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रन्थ]— अनु० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ... ।॥)

(५) तिलोयपण्णत्ती मूल प्र० भाग [जैन-लोकज्ञान-सिद्धान्त विषयक एक सुन्दर प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ।॥)

(६) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M A., I. E. S., ... Price Rs. 2

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust